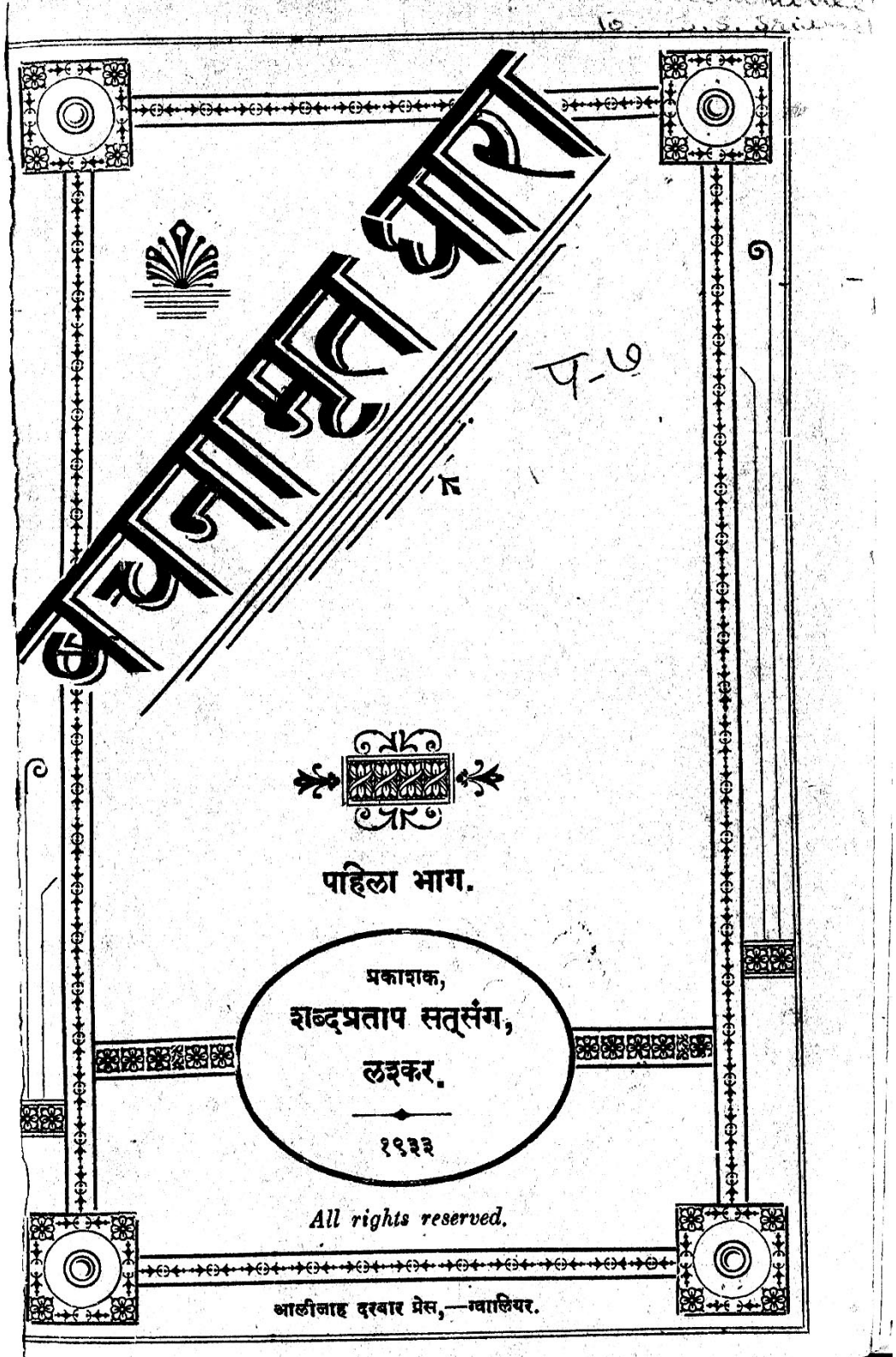
अमृतधारा
पहिला भाग.
प्रकाशक,
शब्दप्रताप सत्संग,
लश्कर.
१९३३
All rights reserved.
आलीजाह दरबार प्रेस,—ग्वालियर.

वचनामृतधारा ।

१. प्रत्येक मनुष्य का यह परम कर्तव्य है कि संसार की परिस्थिति (हालत) पर विचार करे और यह जानने का प्रयत्न करे कि यह संसार क्या है ? एक पृथ्वी नाम गोला है, जिस पर मनुष्य, पशु-पक्षी, वनस्पति इत्यादि चारों ओर दिखाई देते हैं। इस गोले के लगभग तीन चौथाई भाग पर पानी ही पानी है और उस पानी के भी भीतर हजारों प्रकार के जीवधारी और हजारों प्रकार के पेड़ मौजूद हैं। यह पृथ्वी का गोला इतना बड़ा है कि हमको आंख से देखने पर यह गोल नहीं मालूम होता। इसकी परिधि (घेरा) २५,८०० मील है।

२. इस पृथ्वी के गोले के सिवाय हमको आसमान में अनगिनती तारे दिखाई पड़ते हैं और चन्द्रमा हर महीने घटता बढ़ता दिखाई देता है और पृथ्वी को रोशनी देता है। सूर्य, जिसको ज्योतिषियों ने जमीन से १३ लाख गुना बड़ा बतलाया है, जाहिर में इस

पृथ्वी का कर्ता-धर्ता मालूम होता है; क्योंकि इसके ही प्रकाश से संसार के सारे काम सरते हैं। कुल जीवधारियों और वनस्पतियों का जीवन सूर्य के प्रकाश और गर्मी के सहारे है। अगर एक क्षण के लिये भी यह अपनी शक्ति को खींच ले तो सारा संसार छिन्न भिन्न होजाय। ये सूर्य, चन्द्र, तारागण और हमारी पृथ्वी भी सब बराबर घूमते रहते हैं। और ज्योतिषियों ने मालूम किया है कि इन तारों में, जो बहुत छोटे दिखाई देते हैं, बहुत से इस हमारे सूरज से हजारों लाखों बल्कि करोड़ों गुना बड़े हैं; मगर बहुत दूरी के कारण वे इतने छोटे दिखाई देते हैं। वे हमारी पृथ्वी से इतनी दूर हैं कि सैकड़ों और हजारों बरस में उन तारों की रोशनी अपनी चाल से, जो कि एक सेकण्ड में १,८६,००० मील है, हमारी पृथ्वी तक आती है।

३. इन सब बातों पर विचार करने से कुदरत (संसार) का कारखाना इतना बड़ा मालूम होता है कि न वह हमारी बुद्धि में समाता है और न उसमें हमारा कोई विचार काम देता है। सोचने से इस कुदरत के कारखाने में हमारी जमीन का गोला इतना छोटा मालूम होता है जैसे एक बड़े पहाड़ के सामने धूल का एक कण। फिर इस कण की यह दशा है कि

इसके एक चौथाई हिस्से पर कितने ही देश हैं और हर एक देश में कितने ही शहर कस्बे व गांव हैं और उनमें कितने ही मनुष्य और पशु हैं। जीवधारियों की किस्में अनगिनती हैं; यहां तक कि उनको सारे जीवन भर देखते रहने पर भी बुढ़ापे में हम उनकी नई नई किस्में अपनी नजर से गुजरते पाते हैं।

४. ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका सम्बन्ध उस ज्ञान (मालूमात) से है जो मनुष्य के अनुभव में इन्द्रिय द्वारा भूगोल या खगोल विद्या के रूप में आया है; और जो वर्णन प्रकृति का सन्तों और महात्माओं ने शास्त्रों और ग्रंथों में किया है, जिसका कुछ वर्णन संक्षेप में आगे दिया गया है, वह तो बहुत ही आश्चर्यजनक है। अब सोचना चाहिये कि इस अनन्त रचना का वह बहुत छोटा हिस्सा भी, जो हमारी आंखों के सामने है, कैसा आश्चर्यजनक है कि उसकी सम्पूर्ण बातों को उम्र भर तरह तरह की विद्याएँ सीखने पर भी हम पूरे तौर पर नहीं समझ सकते। और उसमें जितने पदार्थ हैं सब के सब हमको अपने अनुभव से नाशमान और मिथ्या मालूम होते हैं। कोई वस्तु यहां एक दशा में कायम नहीं रहती। कुल सृष्टि में मनुष्य सबसे श्रेष्ठ मालूम

(१) अचम्भा पैदा करने वाला।

होता है; परन्तु वह भी दूसरे जीवधारियों की तरह मौत का शिकार बनता है और मौत का कोई समय मुकर्रर नहीं है। जन्म लेने के बाद किसी समय भी मौत आसकती है। कभी कभी तो जन्म लेने के पहिले ही बच्चा मां के पेट में मर जाता है।

५. जो बुद्धि और विचार की शक्ति परमात्मा ने मनुष्य को दी है वह इस पृथ्वी के किसी और जीवधारी में नहीं पाई जाती। हर एक मनुष्य को कभी कभी थोड़ा या बहुत यह विचार अवश्य आता होगा कि मनुष्य असल में क्या है? एक जीवधारी बच्चा मां के पेट में कहां से आता है? और जन्म लेकर कुछ समय में माता पिता की तरह चेष्टा करने लगता है, और इसके अन्दर वह कौनसी चीज है जिसके निकल जाने से शरीर चेष्टा[1]रहित होजाता है और वह चीज जो निकल जाती है अपना अस्तित्व (वजूद) कायम रखती है या मुर्दा शरीर की तरह नाश होजाती है[2]?

६. बुद्धिमान और विचारवान लोगों ने इस अज्ञात (नामालूम), गुप्त पदार्थ (चीज) के सम्बन्ध में अपने बहुत से विचार प्रकट किये हैं। कोई कहता है कि यह एक शक्ति है जो शरीर के बहुत से भागों के

(१) जो हिल-जुल न सके; यानी मुर्दा।
(२) जिन्दा रहती है।

मिलने से पैदा हो जाती है, और उन भागों में विकार उत्पन्न होने के कारण नाश हो जाती है। कोई कहता है कि यह शक्ति अमर और सदा अपना पृथक (अलग) अस्तित्व कायम रखती है और कोई यह कहता है कि सूर्य की गर्मी, जो इसके चारों ओर बहुत दूर तक फैली हुई है, कहीं कहीं अग्नि रूप में प्रज्वलित हो जाती है और फिर बुझ जाती है। और जब प्रज्वलित हो जाती है तो कुदरत के नियम के अनुसार उसे पांच तत्व इकट्ठे होकर घेर लेते हैं और उसके बुझजाने पर कुल तत्व अलग अलग हो जाते हैं। और कोई यह कहता है कि वह ताकत, जिसे जानदारों की जान कहते हैं, एक अपार जान के समुद्र का एक हिस्सा है; और उस समुद्र के अन्दर एक प्रकार का जड़ (बेजान) पदार्थ परमाणु रूप में फैला हुआ है जिसे प्रकृति या माया कहते हैं। और पांच तत्व उसी के भाग हैं जो भिन्न भिन्न प्रकार के आकार[2] बनाये हुये उस अपार समुद्र के भीतर जाबजा (जहां तहां) मुकीम (स्थित) हैं। उनमें से कोई अचल और कोई चलायमान रहते हैं अर्थात् कोई चर और कोई अचर होते हैं। सारांश यह कि उस जान पैदा करने वाली ताकत के विषय (बारे) में भिन्न भिन्न प्रकार

(१) शरीर से अलग होकर भी जिन्दा रहती है।
(२) तरह तरह की शक्लें।

के बहुत से विचार प्रकट किये गये हैं और उन्हीं विचारों से भिन्न भिन्न मतों और मतान्तरों की नींव पड़ी। इन भिन्न भिन्न प्रकार के मतों में संसार के कुल मनुष्य तक़्सीम होगये हैं। प्रथम तो इन मतों के दो प्रधान (मुख्य) भाग हैं—(१) ईश्वरवाद, (२) अनीश्वरवाद।

७. ईश्वरवाद एक ऐसी बड़ी शक्ति को मानता है जो अजर और अमर है, और कुल सृष्टि की कर्ता है। कुल सृष्टि उसी की ताकत से खड़ी है और उसका काम उसी की आज्ञा या उसके बनाये हुए नियमों से चल रहा है। यह मत जानदारों की जान को या तो उस बड़ी ताकत का हिस्सा (भाग) या जौहर बतलाता है या एक अलहदा ताकत उस बड़ी ताकत के आधीन बतलाता है। और अनीश्वरवाद कोई बड़ी ताकत कुल के ऊपर हावी (अधिष्ठाता) नहीं मानता और जानदारों की जान को या तो शरीर के साथ नाश होने वाली ताकत बताता है या हर एक जान को अलहदा अजर अमर ताकत बिना किसी बडी ताकत की आधीनता के बतलाता है। इस प्रकार के भिन्न भिन्न विचारों ने मनुष्य के हृदय में एक ऐसा भ्रम (भेद) पैदा कर दिया है और ऐसी भूल-भुलैंयां डाल

(१) बँट गये हैं।

दी हैं कि मनुष्य को अपनी बुद्धि से सत्य वस्तु का जानना बहुत कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव हो गया है।

८. इसका फल (नतीजा) यह हुआ है कि मनुष्य जाति का बहुत बड़ा हिस्सा तो बगैर सोचे-समझे उसी मत का मानने वाला रहता है कि जो अलग अलग घरानों में बाप-दादाओं के समय से चला आता है और चन्द लोग उनमें से, जो बुद्धि और विचार को काम में लाते हैं और अपने मां-बाप के मतों से जिनका दिल नहीं भरता, दूसरे मतों में शामिल हो जाते हैं; परन्तु मत मतांतरों में झगड़े और बखेड़े हमेशा हुआ करते हैं। धर्म सम्बन्धी विचारों में भेद होने का कारण मुख्य कर यह है कि यह सब मत, जिनका वर्णन ऊपर हुआ है, या तो बुद्धि या विचार से जारी किये गये हैं या आचार्यों के अधूरे अनुभव या सृष्टि के अधूरे ज्ञान के आधार पर, जो उन्होंने कुछ अन्तरी साधन करके प्राप्त किया था, कायम (स्थित) हुए हैं। इसका सुबूत यह है कि जो हालात इन मतों के जारी करने वाले आचार्यों ने अपने ग्रंथों में लिखे हैं उनसे पढ़ने वालों का पूरा समाधान नहीं होता और बहुत से भ्रम और संशय ऐसे पैदा हो जाते हैं कि जिनका उत्तर न तो उन ग्रंथों में मिलता है और न उन मतों पर चलने वाले

दे सकते हैं और न पढ़नेवालों की अक्ल से निकलते हैं; मगर जो मत संतों ने जारी किया है उसके ग्रंथों के पढ़ने से निःसंदेह वह ऐसा पूर्ण मालूम होता है कि कुल संशय और भ्रम पढ़नेवालों के दूर हो जाते हैं और उनको विश्वास हो जाता है कि संत मत निःसंदेह कुल रचना के पूर्ण ज्ञान पर कायम किया गया है। जितने सन्त इस पृथ्वी पर हुए हैं उनके बयान में कोई मत-भेद नहीं है और आदि से अन्त तक कुल बयान ऐसा सिलसिलेवार है कि जो बुद्धि से पूरे तौर पर समझ में आजाता है। प्रमाणों की आवश्यकता नहीं रहती है। और उसमें कुल रचना और उसके कुल पदार्थों और प्राणियों की उत्पत्ति के कारण इस तरह पर लिखे हैं कि उनको बुद्धि तुरन्त मान लेती है। उनका बयान नीचे संक्षेप रूप में समझा कर दिया गया है।

९. सन्त कहते हैं कि रचना होने के पहले चैतन्य ही चैतन्य कुल अपार शून्य में भरा हुआ था। ज्ञान, प्रेम, आनन्द, प्रकाश इत्यादि सर्व शक्तियों के समूह को, जो सूक्ष्म से सूक्ष्म दशा में रंग रूप रेखा से रहित है, चैतन्य कहते हैं।

१०. हर प्रकार की शक्ति में कुदरती तौर पर, जैसा कि साइन्स ने सिद्ध किया है, एक केन्द्र यानी

मर्कज होता है जहां उस शक्ति के सब गुण ज्यादा से ज्यादा ताकत से काम करते हैं यानी जितने विस्तार में वह शक्ति फैली होती है हर जगह उसके केन्द्र से ही उस शक्ति की ताकत और असर पहुंचते हैं; जैसे हमारे कुल सूर्य मण्डल में गरमी और प्रकाश मौजूद है, जिनका केन्द्र सूर्य है, जो अपनी किरणियों द्वारा कुल मण्डल में अपनी ताकत और अपने गुणों का असर पहुंचाता है। इसी तरह चैतन्य शक्ति के अपार सिन्धु में भी एक केन्द्र है, जिस पर चैतन्य के कुल गुण ज्यादा से ज्यादा जोर के साथ काम करते हैं और इस अपार शून्य के कुल हिस्सों में उसके केन्द्र से ही हर किस्म की ताकत पहुंचती है। चैतन्य शक्ति के इस नियम की मिसाल छोटे पैमाने पर मनुष्य का शरीर है कि जिसके अन्दर हर भाग में चैतन्य शक्ति मौजूद है और उस शक्ति का केन्द्र दिमाग के मुकाम पर है, जो दोनों आंखों के दरमियान नाक की जड़ के सामने अन्दर की तरफ है। बुद्धि और विचार का वही स्थान है और उसी स्थान से कुल शरीर का इन्तजाम व हुक्मरानी होती है, वही शरीर का राजा है और शरीर की चैतन्यता और उसके कुल गुणों का असर ज्यादा से ज्यादा उसी मुकाम पर है, यानी आत्मा (सुरत)

की बैठक का वही मुकाम है और आत्मा की धारें जिस्म के हर हिस्से में किरणियों के तौर पर फैली हुई हैं। मनुष्य शरीर की मिसाल से, जिसमें चैतन्य की मौजूदगी व ठहरने का ढंग एक अंश में समझाया गया है, अपने विचार को बढ़ाकर उसको कुल में यानी अपार रचना में समझ लेना चाहिये।

११. और सब गुणों के सिवाय चैतन्य का एक गुण कशिश यानी आकर्षण का है। यह आकर्षण शक्ति लाजिमी तौर पर (अवश्य ही) केन्द्र में सब से ज्यादा होना चाहिये। इसके द्वारा कुल शून्य के चैतन्य का खिचाव हमेशा केन्द्र की तरफ रहना एक जरूरी बात है यानी चैतन्य की धारें उसी तरह से कुल शून्य से केन्द्र की ओर हमेशा खिंचती रहती हैं जैसे समुद्र का पानी सूर्य की गरमी से भाप बन कर सूक्ष्म धारों में, जो आंखों से दिखाई नहीं देतीं, ऊपर की तरफ खिंचता रहता है। इस खिंचाव के होने से चैतन्य के केन्द्र पर चैतन्यता हमेशा बढ़ती रहती है। जब कि केन्द्र पर चैतन्य और उसके गुण पूर्ण विशेषता में हैं तो केन्द्र से दूरी पर फासले की कमी-बेशी के मुताबिक हर तरफ चैतन्य और उसके गुण दरजे बदरजे कम होते जाना एक जरूरी बात

(१) खेंच शक्ति।

है। और जब चैतन्य कम हुआ तो जड़ता का बढ़ता जाना भी जरूरी है; क्योंकि चैतन्य की कमी कोही जड़ता कहते हैं। और यह जड़ता परमाणु रूप में रहती है और उसके अंतर्गत चैतन्य व्याप्त रहता है; यानी चैतन्य से ही क्रम-क्रम कर (दर्जे बदर्जे) जड़ता की अवस्था पैदा होती है; जैसे दूध के ऊपर मलाई पहले सूक्ष्म पैदा होती है और वह क्रम-क्रम से मोटी होती जाती है और जब मोटी होते होते खोए के रूप में आजाती है तो उसके अन्दर दूध और मलाई के कुल सूक्ष्म और स्थूल दर्जे मौजूद रहते हैं। इसी जड़ता को माया और प्रकृति कहते हैं और उसका मौजूद होना चैतन्य की कमी पर निर्भर है। केन्द्र में आकर्षण शक्ति विशेष होने के कारण, जब चैतन्य की धारें केन्द्र की तरफ खिंचती हैं तो प्रकृति के परमाणु सिमिट कर जगह जगह इकट्ठे हो जाते हैं और तत्वों का रूप धारण कर लेते हैं।

१२. ऊपर लिखी हुई बातों को खयाल में रखकर परमात्मा का यानी परम चैतन्य सिंधु का अपार और अनन्त स्वरूप, जो रचना होने के पहले था, समझना चाहिये; सारांश यह कि कुल अपार और अनन्त शून्य में चैतन्य भरा हुआ था। उसके अन्दर एक मुख्य

(१) छोटे से छोटा कण।

स्थान पर उसका केन्द्र, केन्द्र पर चैतन्यता और उसके सब गुण ज्यादा से ज्यादा जोर के साथ बिल्कुल आवरण रहित (बे गिलाफ), और केन्द्र से हर तरफ को चैतन्यता और उसके गुण दर्जे बदर्जे कम होते हुये यानी प्रकृति का आवरण (जो केन्द्र से दूरी होने के कारण और चैतन्य में कमी होने की वजह से पैदा हुआ) अपनी अन्तर्गत चैतन्यता को अपनी सूक्ष्मता और स्थूलता के अनुसार ढके हुये अपार और अनन्त शून्य में फैला हुआ था । परमात्मा का यह स्वरूप रचना होने के पहले था ।

१३. ऊपर लिखी हुई दशा में अपार और अनन्त चैतन्य पुरुष शून्य समाधि में था; जैसे मनुष्य सोने या बेहोशी की हालत में अपने अन्तर की ओर खिंचा रहता है इसी तरह से जब कि कोई रचना नहीं हुई थी उस अनन्त पुरुष की तवज्जुह (ध्यान) बाहर खींचने के लिये कोई पदार्थ न था, और कुदरती तौर पर उसकी तवज्जुह अन्तर की तरफ केन्द्र में ही समाई हुई थी और वह अपने आप में मग्न था । यह दशा किसी भांति भी असाधारण (गैर मामूली) न थी यह कुदरत का नियम है । यहां भी जब कि कोई पदार्थ बाहर किसी जीवधारी की तवज्जुह खींचने को न हो उसकी ऐसी दशा रहना जरूरी है । केन्द्र

(१) गिलाफ ।

की तरफ जो चैतन्य का खिंचाव हर तरफ से हमेशा से हो रहा था उसकी वजह से चैतन्यता केन्द्र में धीरे धीरे इस कदर ज्यादा हो गई कि उसका जोर हद के बाहर होजाने पर किसी खास वक्त में केन्द्र की सम्पुट एकदम खुल गई । और जैसे बादलों में भाप की ज्यादती हद से ज्यादा होजाने पर बादलों से पानी की धारें फूट निकलती हैं, इसी तरह केन्द्र में से चैतन्य की धारें सम्पुट खुलने पर बड़े वेग से फूट निकलीं अर्थात् वह परम पुरुष उनमन दशा से जागृत अवस्था में आया ।

१४. इस बात का हम सब को अनुभव है कि जब हम सोते हैं तो हमारी कुल शक्तियां सोई हुई हालत में रहती हैं और उनकी कार्रवाई बन्द रहती है (उनका व्यापार बन्द रहता है) और जब हम जाग पड़ते हैं तो हमारी सब शक्तियां जागृत अवस्था में आकर काम करने लगती हैं । यह चैतन्य का एक उसूल (नियम) है । इसी नियम के अनुसार जब उस परम पुरुष की शक्तियां जागृत में आईं तो सब शक्तियों के साथ साथ प्रेम की शक्ति को भी अमली हालत (क्रियमाण दशा) में आना बहुत जरूरी था और उसकी पूर्ति के लिये प्रीतम की जरूरत पैदा होना भी परमावश्यक हुआ ।

१५. परम पुरुष कुल मालिक एक ही था और प्रेम की पूर्ति के लिये प्रेमी और प्रीतम दो होना चाहिये। तब यह आवश्यक हुआ कि प्रीतम पैदा किये जावें; इसलिये उस परम पुरुष ने अपनी शक्ति से केन्द्र के बाहर निकली धाराओं को अलहदगी (पार्थक्य) प्रदान की और हर एक धार को व्यक्तित्व यानी शख्सियत दी; यानी परमात्मा से आत्माएँ प्रकट हुईं।

१६. जब इस तरह अनेक आत्माओं के अलग अलग स्वरूप कायम हो गये तब केन्द्र से एक चैतन्य की बड़ी धार रचना करने वाली प्रकट हुई और उसने आगे बढ़कर कुछ दूरी पर ठेका लिया और मण्डल कायम किया। वहां से फिर धार आगे बढ़ी और दूसरी जगह ठेका लिया और मण्डल कायम किया, और इसी तरह फिर तीसरी जगह ठेका लिया और मण्डल कायम किया। ठेके लेने के मुकामों पर उस चैतन्य धार ने जो रूप धारण किये उनमें से पहले का नाम सन्तों ने अगम पुरुष रखा है और उसके मण्डल का नाम अगम लोक रखा है। दूसरे रूप को अलख पुरुष करके बयान किया है और उसके मण्डल का नाम अलख लोक रखा है। और तीसरे रूप का नाम सत्यपुरुष रक्खा है और उसके मण्डल का नाम सत्यलोक रखा है। यहां तक निरी चैतन्य

ही चैतन्य की रचना है। और जो आत्मा स्वरूप धारें केन्द्र से प्रकट हुईं वह इन चारों लोकों में विचरने लगीं और परमपुरुष अपने चारों स्वरूपों से उनके संग प्रेम विहार करने लगे। केन्द्र स्थान जिसको सन्तों ने अनामी लोक कहा है (और केन्द्र को अनामी कहा है) परम शान्ति का स्थान है और बाकी तीन लोक परम विलास के मण्डल हैं। ये लोक असल में प्रेम विलास के लिये रचे गये हैं। असली सत्य और अविनाशी रचना यही है, और प्रेम और आनन्द के लिये रची गई है।

१७. चैतन्य का एक कुदरती नियम है कि एक ही अवस्था में उस अवस्था का बोध नहीं हो सकता। किसी अवस्था का बोध करने के लिये दूसरी भिन्न और विरुद्ध अवस्था का बोध होना चाहिये; जैसे जब तक गरमी का बोध नहीं तब तक सरदी का बोध नहीं हो सकता, जब तक अंधकार का बोध नहीं तब तक प्रकाश का बोध नहीं हो सकता और जब तक दुःख का बोध नहीं तब तक सुख का बोध नहीं हो सकता। पस (अतएव) इस चैतन्य की रचना में आत्माओं को दुःख का अनुभव न होने के कारण वहां के परम सुख का बोध नहीं हो सकता था और बगैर सुख के प्रेम की पूर्ति नहीं हो सकती थी; तो यह आवश्यक

हुआ कि ऐसी सृष्टि की भी रचना की जावे जहां आत्माओं को भेजकर पूर्ण दुःख का बोध कराया जावे और फिर ये रूहानी रचना में ठहराई जावें; ताकि पूर्ण आनन्द का, जो पूर्ण प्रेम से उत्पन्न होता है, बोध हो, और वे परमपुरुष के साथ पूर्ण प्रेम करने योग्य हो जावें। इसलिये पूर्ण दुःख की मात्रा कायम की जाकर मायक सृष्टि के रचे जाने की मौज परम पुरुष ने प्रकट की। यह प्रबन्ध चन्द आत्म-धाराओं के सुपुर्द किया गया, जिन्होंने सत्यलोक के नीचे उतरकर रचना की, और प्रबन्धकर्ताओं के जुदा जुदा रूप, नाम और धाम कायम हुए।

१८. आत्मा को दुःख का अनुभव कराने के लिये यह स्कीम रची गई कि आत्मा को स्थूल रूप दिया जावे और उस स्थूल रूप के द्वारा शुभ और अशुभ कर्म कराये जावें और उन कर्मों के फल सुख और दुःख के रूप में दिये जावें। असल में तो गरज यह थी कि आत्मा को दुःख का अनुभव हो; परंतु जिस तरह निर्मल चैतन्य देश के सुख का बोध बगैर दुःख के अनुभव के नहीं हो सकता था इसी तरह दुःख का अनुभव भी बगैर सुख के अनुभव के नहीं हो सकता था।

(१) योजना की गई, उपाय रचा गया।

१९. दुःख और सुख की कोई अलहदा मुकर्ररा (नियत) अवस्थाऐं नहीं हैं। जब भिन्न भिन्न अवस्थाओं का बोध एक दूसरे की तुलना या मिलान करते हुए होता है तब उन अवस्थाओं को दुःख या सुख कहते हैं, यानी हर एक हालत या अवस्था अपने ऊपर की हालत या अवस्था के मुकाबले में दुःख और नीचे की हालत के मुकाबले में सुख मालूम होती है। जैसे घी, दूध, मेवा इत्यादि पदार्थों के मुकाबले में सूखी रोटी दुखदायक और पशुओं के चारे के मुकाबले में सुखदायक प्रतीत होती है। इसलिये कर्मों का हिसाब किताब ऐसा रखा गया है कि जिनके फलों में सुख और दुःख की अवस्थाऐं तुलनात्मक (निस्बतन्) पैदा होजावें।

२०. कर्म की स्कीम (योजना) को पूरा करने के लिये जिन जिन बातों और कामों और पदार्थों की जरूरत मालूम हुई वह उपजाये गये। चूंकि आत्मा परमात्मा की अंश होने के कारण उसके साथ अद्वैत भाव में रहती थी इस वजह से उसकी वृत्ति कर्म करने में और फल के लालच में खिंच नहीं सकती थी। इसलिये पहिले यह आवश्यकता हुई कि वह द्वैतभाव में बांधी जावे, और फिर उसमें इच्छा फुरने के लिये अनेक प्रकार के सामान जो जरूरी समझे गये इकट्ठे किये जावें।

२१. इसलिये सत्यलोक के नीचे एक लोक भँवर-गुफा नाम का ऐसे स्थान पर रचा गया जहां अहंकार उत्पन्न करने वाले परमाणु एक काफी मिकदार (यथेष्ठ मात्रा) में इकट्ठे हो सकते थे और उन परमाणुओं से आत्माओं के अहंरूपी शरीर तय्यार हुए; और आत्माऐं उन शरीरों में लिपटते ही परमात्मा से द्वैतभाव और अपना स्वतंत्र आपा महसूस करने लगीं। और उनमें ममत्व पैदा हुआ। इस स्थान पर जिस आत्म-धार ने इस लोक के प्रबन्धकर्त्ता का रूप धारण करके ठेका लिया उसका नाम सन्तों ने सोहं-पुरुष रखा है। और वहां से वे और नीचे उतारी गईं। और एक खास ऐसे स्थान पर जहां इच्छा पैदा करनेवाले परमाणु थे ठहराई गईं। सन्तों ने उस स्थान को सुन्न कहा है। वहां उनके ऊपर इच्छारूपी शरीर का आवरण (गिलाफ) चढ़ा। इस मुकाम पर अनेक प्रकार के भिन्न भिन्न पदार्थ परमाणुओं से रचे गये और आत्माओं में जो दूर दूर उन पदार्थों के दर्मियान विचरीं भिन्न भिन्न इच्छायें भिन्न भिन्न पदार्थों को देखकर पैदा हुईं। इस प्रकार इस स्थान पर कर्मों का और कर्मों की भिन्नता का और उनके भिन्न भिन्न फलों का बीज बो गया। सुन्न लोक के धनी का नाम परब्रह्म और रारं पुरुष रखा है। यह रारं पुरुष अकेला अपने आप रचना नहीं

१ प्रतीत.

कर सका इसलिये इसकी सहायता के लिये एक दूसरी आद्या नामक धार सत्य-लोक से उतारी गई। और उसने प्रकृति के नाम से रारं पुरुष के साथ नर और मादा (पुरुष-स्त्री) का सम्बन्ध कायम किया और दोनों मिलकर रचना का काम करने लगे। नर और मादा के संयोग से जीव की उत्पत्ति इसी स्थान से शुरू हुई, हालांकि (यद्यपि) सूक्ष्म दशा होने के कारण संयोग के नियमों में भिन्न भिन्न लोकों में बहुत फर्क है।

२२. सुन्न के स्थान से रारं पुरुष और प्रकृति की अनन्त धारें फूटीं और उन धारों ने ऐसे मुकामों पर ठेका लिया जहां पांच तत्व और तीन गुण उपजाने वाले परमाणु एकत्रित थे। दोनों धारों ने हर मुकाम पर ठेके लेकर जो रूप कायम किये उनके नाम ब्रह्म और माया हुए। इस ब्रह्म स्वरूप को ॐकार पुरुष और त्रिलोकीनाथ भी कहते हैं और इस स्थान का नाम सन्तों ने त्रिकुटी रक्खा है। इस तरह पर असंख्य त्रिकुटियां कायम हुईं और हर एक त्रिकुटी में एक धार ब्रह्म की और एक माया की मुकीम[1] हुई। इन दो धारों ने अपने अपने त्रिकुटी के मुकाम पर बैठकर अपनी अपनी त्रिलोकी रची।

२३. इस तरह अनन्त त्रिलोकियों की रचना हुई और हर एक त्रिकुटी के मुकाम से ब्रह्माण्डी मन की

१. स्थित हुई।

धार और पांच तत्व और तीन गुण की सूक्ष्म धारें प्रगट हुईं, और हमारी त्रिलोकी के समान अपनी अपनी त्रिलोकी में रचना की कार्रवाई की ।

२४. अब इसके आगे हम अपनी त्रिलोकी का हाल वर्णन करते हैं । वही हाल हर एक त्रिलोकी का समझ लेना चाहिये ।

२५. आत्म धारों ने भी शून्य स्थान से उतरकर इस स्थान पर कयाम किया । और उन धारों के ऊपर तीसरा आवरण (गिलाफ) ब्रह्माण्डी मन का इसी स्थान पर चढ़ा । यह मन ब्रह्म का अंश है और संत इसी ब्रह्म को काल कहते हैं । क्रोध की जड़ इसी स्थान पर है, क्योंकि शून्य के लोक से जिस शरीर में लिपटकर आत्मा यहां यानी त्रिकुटी के मुकाम पर आई उस शरीर में इच्छा की हिलोर उठने पर जब वह इच्छा पूरी न हुई तो क्रोध की उत्पत्ति का कारण पैदा हुआ ।

२६. माया और ब्रह्म की धारें यहां से उतर कर एक स्थान पर ठहरीं जिसको सहस्र दल कंवल कहते हैं । इस मुकाम पर उन धारों के नाम जोति निरञ्जन हुए । और आत्म धारें जो त्रिकुटी से यहां उतर कर आईं उन पर ब्रह्माण्डी मन के गिलाफ के

ऊपर इस स्थान के मसाले के बने हुए गिलाफ चढ़ गये । उन गिलाफों को निज मन कहते हैं। यह मन निरंजन का अंश है । पांच तत्व और तीन गुण की धारें भी त्रिकुटी से उतर कर इस स्थान पर आईं और फिर आगे बढ़ कर फैलती गईं और स्थूलता पकड़ती गईं । मोह और लोभ की जड़ इसी सहस्र दल कँवल के स्थान पर है । जिस तरह त्रिकुटी के मुकाम पर इच्छा पूर्ण न होने के कारण क्रोध अंग की उत्पत्ति हुई उसी तरह सहस्र दल कँवल के मुकाम पर इच्छा पूर्ण होने के कारण इच्छित पदार्थ की प्राप्ति पर उस पदार्थ में मोह उत्पन्न हुआ, और उस पदार्थ को त्याग न करने की चाह से लोभ उत्पन्न हुआ, और उस पदार्थ को सदैव बढ़ाते रहने की इच्छा से लालच उत्पन्न हुआ ।

२७. ज्योति निरंजन के संयोग से तीन धारें प्रगट हुईं जिनके नाम शिव, विष्णु, ब्रह्मा हुए। तीनों धारें सहस्र दल कँवल के नीचे एक शून्य मैदान में ठहरीं और ऊपर से उतरी हुईं धारों के द्वारा इस शून्य स्थान में एक लोक रचा गया जिसको अण्ड कहते हैं ।

२८. सहस्र दल कँवल से निरंजन और ज्योति की धारें उतरीं । निरंजन की धार ने नीचे एक स्थान पर

ठहर कर विराट रूप कायम किया जहां आगे की स्थूल मायक रचना का नक़शा तय्यार हुआ और ज्योति की धार ने इस विराट लोक के नीचे एक अपना अलहदा लोक शक्ति लोक के नाम से रचा ।

२९. शिव, विष्णु और ब्रह्मा की धारें भी अण्ड के स्थान से नीचे उतरीं और शिव ने, जो तमोगुण के प्रधान देव मुकर्रर किये गये, शक्ति लोक के नीचे अपना लोक कायम किया । उसके नीचे विष्णु ने, जो सतोगुण के प्रधान देव हुए, अपना लोक रचा । उसके नीचे रजोगुण स्वरूप ब्रह्मा ने अपने लोक की रचना की और उसके नीचे स्वर्ग लोक इत्यादि रचे गये । स्वर्ग लोक के नीचे एक धार ने, जो गणेश नाम की शिव लोक से उतर कर आई, एक लोक रचा जिसमें असुरों की रचना हुई । इसीलिये गणेशजी को शिवजी का पुत्र कहते हैं ।

३०. इन सब लोकों में सूक्ष्म तत्वों की रचना होती चली आई, यद्यपि तत्वों की सूक्ष्मता में ऊपर से नीचे की तरफ दर्जे व दर्जे कमी होती गई है । और इन लोकों के नीचे के मृत्यु लोकों की रचना तत्वों के स्थूल रूप से की गई । हमारा पृथ्वी लोक भी एक मृत्यु लोक है । इन लोकों के नीचे सात लोक विशेष स्थूल तत्वों से रचे गये जिनके नाम

तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, पाताल हैं ।

३१. पिण्डी मन की दो धारों ने, जो विराट लोक और शिव लोक से उत्पन्न हुईं, निजमन के गिलाफ के ऊपर अपने गिलाफ चढ़ाये । पिण्डी मन की धारों से बुद्धिरहित विचारों का वेग उठता है । और यही मन शिव लोक से लेकर कुल नीचे के लोकों में संसार का मुख्य संचालक है ।

३२. समझना चाहिये कि यह कुल मायक रचना भँवर गुफा से पाताल लोक तक जीव को कर्म बन्धन में डालने के लिये की गई है, और जैसा कि ऊपर बयान हो चुका है कर्म दुःख की मात्रा पूरी करने के लिये रचे गये हैं, ताकि जीव पूर्ण दुःख का अनुभव करके निर्मल चैतन्य देश में लौटे और पूर्ण सुख भोगने का अधिकारी हो ।

३३. त्रिकुटी के मुकाम से पाताल लोक तक त्रिलोकी कही जाती है । और इस तरह की अनन्त त्रिलोकियां दशमद्वार यानी शून्य स्थान के नीचे रची गई हैं, यानी दशवें द्वार से माया और ब्रह्म की अनन्त धारें फूटी हैं जिन्होंने इस त्रिलोकी के समान अनन्त त्रिलोकियां रची हैं जैसा कि ऊपर बयान किया जा चुका है ।

३४. सन्तों ने कुल रचना के तीन बड़े विभाग किये हैं:—

१. निर्मल चैतन्य देश, जहां चैतन्य ही चैतन्य है।

२. ब्रह्माण्ड, जिसमें निर्मल चैतन्य और निर्मल माया की मिलौनी है।

३. पिण्ड, जिसमें निर्मल चैतन्य और मलीन माया की मिलौनी है। मायक सृष्टि के हर दो दर्जों में माया ऊपर की तरफ़ सूक्ष्म यानी निर्मल और नीचे की तरफ स्थूल यानी मलीन होती गई है।

३५. यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि निर्मल चैतन्य आनन्दस्वरूप और हमेशा एकरस रहता है, उसकी हालत में परिवर्तन[1] नहीं होता। दुःख का कारण माया है और उसमें परिवर्तन हुआ करता है। आत्मा के ऊपर जो गिलाफ चढ़े हुए हैं वही दुःख के कारण हैं और उन्हीं के बदलने को मौत कहते हैं। माया जिस स्थान पर जितनी सूक्ष्म यानी निर्मल है वहां दुःख उतना ही कम और सुख उतना ही अधिक है, और माया के गिलाफ यानी शरीर उतनी ही देर में बदलते हैं और उम्र ज्यादा होती है। पिण्ड के देव

१. तब्दीली.

लोकों में यानी इन्द्र लोक ब्रह्मा लोक, विष्णु लोक, शिव लोकादिक में हमारे लोक की अपेक्षा (बनिस्बत) मायक शरीर अधिक निर्मल हैं इसी कारण से उन लोकों में सुख और उम्र ज्यादा है और पिण्ड के लोकों की अपेक्षा ब्रह्माण्ड के लोकों में मायक शरीर अधिक निर्मल हैं, इस हेतु वहां सुख और उम्र और भी ज्यादा है। और निर्मल चैतन्य देश में माया न होने के कारण पूर्ण सुख है और आयु अनन्त है।

३६. कर्म की मिसाल एक वृक्ष से दीजाती है जिसके लिये धरती भँवर गुफा पर, जहां से अहंकार शुरू होता है और आत्मा का मायक आपा कायम होता है, तैयार होती है। और उसके नीचे शून्य स्थान पर, जहां इच्छा पैदा करनेवाला आवरण (गिलाफ) आत्मा के ऊपर चढ़ता है, कर्म-वृक्ष का बीज बोया जाता है। और त्रिकुटी के स्थान पर कल्ला फूट कर तना (धड़) तैयार होता है। और नीचे के लोकों में छोटी और बड़ी शाखाऐं फूटतीं हैं। स्थूल मृत्यु लोक में फल प्रगट होता है। इस फल के भोगने के लिये चार खानें और चौरासी लाख योनियां और नीचे

(१) सन्तों के मत में दयाल देश को (यानी सत्य लोक और उसके ऊपर के लोकों को) अमर लोक कहा है; इसलिये सत्य लोक के नीचे जितने लोक हैं, उनमें चाहे जितने समय के बाद मृत्यु हो, मृत्यु लोक कहे जाते है. और दूसरे मतों में सिर्फ भूलोक को मृत्यु लोक कहते हैं। इसलिये हमने भूलोक को और इसके समान दूसरे स्थूल तत्वों के लोकों को स्थूल मृत्यु लोक के नाम से बयान किया है।

के तलादि लोक और नर्क, स्वर्ग आदिक रचे गये हैं।

३७. जीव मायक सृष्टि के सब लोकों में भ्रमण करके जब दुःख के अनुभव की मात्रा पूरी कर लेता है तब निर्मल चैतन्य देश में लोटने का अधिकारी होता है। ऐसे अधिकारियों के लिये ही संत सद्गुरु निर्मल चैतन्य देश से आकर संसार में प्रगट होते हैं और उन्हीं अधिकारियों को उनमें श्रद्धा और भाव और प्रतीत आती है, दूसरे लोगों को प्रतीत नहीं आती है। उनके दरवार में अधिकारियों और अनअधिकारियों की छांट करने के लिये कोई चौकी पहरा नहीं रहता; बल्कि अनअधिकारी, जिन्होंने दुःख के अनुभव की मात्रा अभी पूरी नहीं की है, अपने आप ही उनकी तरफ से मुख मोड़े रहते हैं और दूसरे मतों और धर्मों में, जिनको वास्तव में ब्रह्म यानी काल पुरुष ने स्वयं या अपने आधीन देवताओं के द्वारा दुःख के अनुभव की मात्रा पूरी कराने के लिये ही रचे हैं, शरीक रहते हैं।

३८. ऊपर लिखे वचनों का सार यह है कि परमात्मा यानी मालिक कुल परम चैतन्य सिन्धु अपार और अनन्त रूप में एक ही था और उसका केन्द्र उसका मग्ज़ था जिसके चारों ओर का वह

भाग, जहां तक निर्मल चैतन्य देश की रचना है, उसका शीश समझना चाहिये और इसके अलावा जितना अपार और अनन्त पसारा था उसके शरीर के दूसरे हिस्से समझना चाहिये। हर ओर से चैतन्य का खिंचाव मग्ज़ की ओर था। मग्ज़ पर चैतन्यता हद से ज्यादा होने के कारण उसकी सम्पट खुली और उनमुनी अवस्था दूर होकर जागृति उत्पन्न हुई। उस जागृति में उसका प्रेम अंग भी जागा जिसके कारण उसको प्रीतम की आवश्यकता हुई कि जिनके साथ प्रेम किया जाये; इसलिये उसने अपने केन्द्र से निकली हुई धारों को अलग करके आत्मा बनाया। मगर चैतन्य की अवस्था एक रस होने के कारण आनन्द का बोध नहीं हो सकता था और आनन्द के बिना प्रेम नहीं हो सकता था, और प्रेम की पूर्ति होना परम आवश्यक (निहायत जरूरी) था। इसलिये आनन्द का बोध कराने के लिये दुःख के अनुभव की जरूरत थी और दुःख का अनुभव आत्माओं को बिना शुभाशुभ कर्मों के नहीं हो सकता था और शुभाशुभ कर्म बिना इच्छा के नहीं हो सकते थे, और इच्छा आत्मा को अहं तत्व के साथ मिलाये बिना उत्पन्न नहीं हो सकती थी और इच्छा उत्पन्न होने पर भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार इत्यादि विकारों के बिना उसकी पूर्त्ति पूरे तौर पर नहीं होसकती थी,

इसीलिये यह सारी रचना, जिसका कुछ बाहरी हिस्सा हमारे इन्द्री गोचर है, की गई है। और जीव यहां दुःख के अनुभव की मात्रा पूरी कर रहे हैं। और जो जो दुःख के अनुभव की मात्रा पूरी करते जाते हैं वे संत सतगुरु के चरण पकड़ते जाते हैं और चरण पकड़ने के बाद उनको उस वक्त तक यहां और ठहरना पड़ता है जब तक कि वे अपने कर्मों को, जो उनके साथ लगे हुए हैं, बिलकुल साफ न करलें और बासना को, जो कर्म का बीज है, पूर्ण रीति से क्षय न करदें। यह सब काम संत सतगुरु के उपदेशानुसार सुरतशब्द योग की कमाई करने से कुछ काल में पूरा होता है और तब ही जीव मन और माया से मुक्त होकर अपने निज धाम यानी निर्मल चैतन्य देश में पहुंचकर परम चैतन्य सिन्धु में लय होकर उसके प्रेम की पूर्ति करता है और आवागवन से बिल्कुल छूटकर, अमर होकर परमानन्द और परम शान्ति को प्राप्त होता है।

३९. श्रीकृष्ण महाराज ने अर्जुन को गीता में समझाया है कि कोई जीव बगैर निःकर्म हुए मोक्ष-पद को प्राप्त नहीं हो सकता; परन्तु बिना योगाभ्यास के निःकर्म होना असम्भव है; क्योंकि कर्म तीन प्रकार के होते हैं— एक तो क्रियमाण जिनको हम इस जन्म में करते हैं,

दूसरे संचित जो अनेक पिछले जन्मों में किये गए हैं और अभी तक भोगे नहीं गये हैं और हमारे साथ मौजूद हैं और जिनके चित्र हमारे मनाकाश में रहते हैं, और तीसरे प्रारब्ध कर्म हैं जो हमारे सञ्चित कर्मों से हमारे वर्तमान (मौजूदा) शरीर के तय्यार करने के लिये अलहदा किये गये हैं और जिनसे हमारा शरीर बना है। इन तीनों प्रकार के कर्मों में प्रारब्ध कर्म तो वर्तमान जीवन में अपना फलदेकर मिट जाते हैं और क्रियमाण में से भी कुछ प्रारब्ध बनकर वर्तमान जीवन में भुगत जाते हैं और शेष सञ्चित में शामिल हो जाते हैं। इस तरह सञ्चित कर्मों का भण्डार हमेशा बढ़ता जाता है; क्योंकि उसमें से प्रारब्ध बनकर उतने नहीं भुगतते हैं जितने कि क्रियमाण से सञ्चित में शामिल होजाते हैं। सञ्चित कर्मों को काट कर साफ करने का उपाय सिवाय सुरतशब्द योग के दूसरा नहीं रचा गया है। यही कारण है कि श्रीकृष्ण महाराज ने अपने धाम को जाते समय अपने परम मित्र उद्धव को यह उपदेश दिया कि बद्रिक आश्रम में जाकर शब्द योग का अभ्यास करो तब तुम हमारे धाम को पहुंचोगे। और उन्होंने शब्द योग की महिमा अर्जुन को भी उत्तर गीता में समझाई है। और और जितने महात्मा और अवतार और पैग़म्बर

१. बाकी.

इत्यादि हुए हैं सब ने एक स्वर से योग मार्गों में शब्द अभ्यास सर्वश्रेष्ठ बतलाया है ।

४०. शब्द चैतन्य का जहूरा (प्रत्यक्ष गुण) है । जहां चैतन्य है वहां शब्द जरूर है । सन्तों के शब्द में और दूसरे महात्माओं के शब्द में यह अन्तर है कि दूसरे महात्माओं के बताये हुए शब्द की धारों का निकास माया की हद के अन्दर है यानी वे शब्द पिण्ड या ब्रह्माण्ड के हैं और सन्तों का शब्द उस रचना करने वाली चैतन्य धार का शब्द है जो परम चैतन्य सिन्धु के केन्द्र से निकली है और जो हर एक जीव के घट में सुषुम्ना नाड़ी द्वारा बह रही है । वही आत्मा की या जान की धार है । जाहर है कि जिस धार का निकास जिस स्थान से है उस धार को पकड़ कर चलने वाला अभ्यासी उसके निकास के स्थान ही तक पहुंच सकता है । सिवाय सुषुम्ना नाड़ी के शब्द की धार के और कोई शब्द की धार जीव को माया की हद के बाहर नहीं पहुंचा सकती; इसलिये कुल शब्द मार्गों में सुषुम्ना नाड़ी के शब्द का मार्ग सर्वश्रेष्ठ है । शब्द के मानी यहां आवाज ही के नहीं हैं; बल्कि शब्द की धार में प्रकाश, रूप, ज्ञान इत्यादि सब शामिल हैं; मगर चूंकि उस चैतन्य धार के दूसरे गुणों का पकडना और उनके सहारे आकाश

मार्ग में चलना अभ्यासी के लिये बहुत कठिन और खतरनाक (भयानक) है और उस धार के शब्द यानी आवाज को पकड़कर चलना बहुत सरल और बेखतरे है, इसलिये अभ्यासी को पहिले शब्द की ही धार पकड़ाई जाती है; क्योंकि संसार में भी कहीं जंगल या निर्जन स्थान में अँधेरी रात्रि के समय अगर कोई मनुष्य रास्ता भूल जावे और कहीं दूर से कोई आवाज आती हो तो वह आवाज के सहारे आवाज के मुकाम तक पहुंच सकता है । प्रकाश का भी मार्ग इस कदर सरल व सुगम नहीं है क्योंकि जब बहुत ज्यादा प्रकाश का तेज सामने आजाता है तो उसके सामने दृष्टि का ठहरना भी काठिन होजाता है मार्ग का खोज लगाना तो दूर रहा ।

४१. सुषुम्ना नाड़ी के शब्दों का भेद सिवाय सन्त सतगुरु और उनके प्रेमी भक्तों के और कोई नहीं बतला सकता, और अगर कोई इधर उधर से सुन कर बतलायेगा भी तो उसके बतलाने से जिज्ञासू को कुछ लाभ न होगा; क्योंकि सिर्फ शब्द का भेद बतलाने से मार्ग हाथ नहीं आयेगा । मार्ग पर चलने के लिये यह जरूरी है कि जिज्ञासू का सूत सन्त सतगुरु से या उस मार्ग पर चलने वाले अभ्यासियों से, जो सन्त सतगुरु के मुख्य सेवक हैं, लगना चाहिये;

क्योंकि यह जरूरी है कि जिज्ञासू के मन और सुरत (आत्मा) को अन्तर में कोई बलवान चैतन्य की धार खींचकर मार्ग पर लावे और हमेशा चलने में और मार्ग के विघ्नों के दूर करने में सहायक रहे।

४२. मालूम हो कि सन्त सतगुरु वह महापुरुष हैं जिनकी आत्म धार सब बन्धनों को काटकर और सब आवरणों (गिलाफों) को तोड़कर माया की हद के पार निर्मल चैतन्य देश में पहुंचकर सर्व ज्ञान और सर्व शक्तियों को प्राप्त कर चुकी है। उनकी आत्म धार के साथ जिन प्रेमी भक्तों की आत्म धारें ऊपर को अन्तर में खिचने लगीं हैं वे भी और जिज्ञासुओं की आत्म धारों को अपनी धारों से लपेटकर मार्ग पर चला सकती हैं। इसलिये सिर्फ भेद के मालूम कर लेने से कोई मनुष्य चाहे जितना परिश्रम करे मार्ग हाथ नहीं आवेगा। इसलिये जिज्ञासू को उचित है कि सन्त सतगुरु या उनके खास प्रेमी भक्तों को ढूंढ कर उनसे उपदेश ले और उनसे प्रीति का नाता जोड़े और उनकी हिदायत के अनुसार अभ्यास करे तो निस्सन्देह उसका काम बनना शुरू हो जायगा।

४३. मालूम हो कि संत मत का अधिकारी वह है जिसके हृदय में अपने परम पिता परम चैतन्य सिन्धू मालिक कुल के दर्शन की सच्ची अभिलाषा है और

दूसरा कोई हेतु सिद्धि शक्ति इत्यादि प्राप्त करने का नहीं है। ऐसे सच्चे जिज्ञासू को सन्त सतगुरु का खोज करना चाहिये। और इसमें सन्देह नहीं कि वह अवश्य ही खोज करेगा और उसको वे खुद या उनके कोई ख़ास प्रेमी भक्त अवश्य मिलेंगे। खोज और तलाश करने की ज़रूरत इस कारण से है कि इस संसार में कोई काम बिना कारण के प्रगट नहीं होता। जो ऊंचे दर्जे के अधिकारी हैं उनको थोड़े से ही परिश्रम से सन्त सतगुरु मिल जावेंगे; और ऊंचे दर्जे का अधिकारी वह है जो पहले एक या दो जन्मों से सन्त सतगुरु से मिलता और उनमें भाव लाता चला आरहा है।

४४. ऊपर के बयान से मालूम होगा कि इस कुल रचना का असली और मुख्य हिस्सा निर्मल चैतन्य देश है जहां माया बिल्कुल नहीं है। वह महा प्रकाशमान है यानी उस देश के अन्दर करोड़ों, अरबों और संखों सूर्य्यों तक का उजेला दर्जे ब दर्जे नीचे से ऊपर के लोकों में होता चला गया है। इसको दयाल देश भी कहते हैं और यही दयाल देश आत्मा के रहने की असली जगह है। वहां पूर्ण प्रेम, ज्ञान और पूर्ण आनन्द सदा एक रस रहता है और किसी तरह का दुःख और कष्ट उस देश में नहीं है और आत्मा जब नीचे

के स्थानों से लौटकर दयाल देश में जाती है तब आवागमन से बिल्कुल छुटकारा होजाता है और वह अमर होजाती है और परम शान्ति और परमानन्द में निमग्न (चूर) रहती है । बहुत से मूर्खों और नादानों का यह ख़याल है कि मोक्ष-पद में आत्मा सोई हुई हालत में या शून्य अवस्था में आनन्दरहित रहती होगी । उन लोगों के मन में ऐसी कल्पनाएँ (ख़यालात) अज्ञानता के कारण उठा करती हैं ।

४५. वास्तव में दयाल देश जिसका वर्णन ऊपर किया गया है, विस्तार में अनन्त और अपार है । वहां आत्मा स्वरूप प्रेमी भक्त इस क़दर बेशुमार तादाद में बसते हैं कि उसकी आबादी नीचे की अनन्त त्रिलोकियों की आबादी से अनन्त गुनी ज़्यादा है और कुल अनन्त त्रिलोकियों की मायक रचना दयाल देश के घेरे में है, और वह धाम काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्षा, तृष्णा, वैर, विरोध इत्यादि विकारों से रहित है । और नीचे की रचना यानी ब्रह्माण्ड और पिण्ड की सृष्टि, जो मायक है, जीवात्मा को दुःख का अनुभव कराने के लिये रची गई है; क्योंकि बिना दुःख के सुख का बोध नहीं हो सकता है । इसके समझाने के लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है कि पांच आदमी हैं, उनमें एक तो महा भिखारी है

जिसको जन्म से सूखी रोटी भी पेट भर मिलने का सुख प्राप्त नहीं हुआ और जन्म से ही अन्धा, लूला, लंगड़ा है । और दूसरा आदमी हज़ार दो हज़ार रुपये का धनी है और मामूली तौर से खाता पीता है । और तीसरा आदमी लखपती है जो दूसरे से बहुत बेहतर हालत में रहता है । और चौथा आदमी एक राजा है जिसको तीसरे से भी अधिक सुख प्राप्त है । और पांचवां एक शाहंशाह यानी सम्राट का वलीअहद (युवराज) है जो चौथे से भी अधिक सुख भोगता है । अब अगर पांचों में से हर एक को शाहंशाही तख़्त और राज और हुकूमत प्राप्त हो और उस पहिले आदमी को थोड़ी देर के लिये मान लो कि नेत्र और हाथ पैर भी परमात्मा की कृपा से दुरुस्त हालत में मिल जावें तो सब से अधिक सुख शाहंशाही तख़्त पर किसको होगा ? निस्सन्देह उस भिखारी को होगा जिसको सब से अधिक दुःख का अनुभव हुआ है। इससे सिद्ध है कि पूर्ण दुःख के अनुभव पर ही पूर्ण सुख का बोध निर्भर है । और पूर्ण दुःख के लिये इस मायक रचना में जितना सुख सम्भव है उसका होना परमावश्यक है । इस कारण परम चैतन्य सिन्धू यानी सर्वोपरि अनामी पुरुष ने माया और ब्रह्म द्वारा माया की हद

के भीतर अनेक श्रेणी के मत-मतांतर रचे हैं और इन्हीं मत-मतान्तरों के लिये जुदा जुदा लोकों से अवतार पैग़म्बर इत्यादि प्रकट होते रहते हैं और जुदा जुदा मत-मतान्तर जारी करते रहते हैं जिनके मुताबिक़ लोग कार्रवाई करके सुख की अवस्था को प्राप्त होते हैं। और उस सुख के कारण दुःख की अवस्था में लौटकर दुःख की मात्रा अधिक प्रतीत करते हैं, जैसे एक लकड़हारा रोज पचीस सेर लकड़ी का गट्ठा सिर पर रख कर चला करता है, अगर वही लकड़ी का बोझ एक बड़े राजा के सिर पर रख कर उसे धूप में चलाया जाये तो दुःख का कारण एक ही होने पर भी लकड़हारे के दुःख से राजा का दुःख कई गुणा अधिक होगा ।

४६. तात्पर्य यह कि जितने मत-मतांतर मायक सृष्टि के अधिकारियों द्वारा प्रगट हुए हैं वे सब के सब दुःख की मात्रा पूरी करने के लिये और मायक सुख की अधिक से अधिक मात्रा का बोध कराने के लिये रचे गये हैं। और भूत, प्रेत, देवताओं की प्रतिमा की पूजा से लेकर अष्टांग योग, हठ योग और ब्रह्म ज्ञान तक इसी श्रेणी के मार्गों में हैं। जो जीव इन मार्गों पर चलते हैं वे सब मायक सृष्टि के उद्देश्य का ख़याल करते हुए दर्जे व दर्जे ठीक रास्ते पर हैं।

और वे अपने अपने मतों के द्वारा सुख भोग भोग कर दुःख की मात्रा पूरी करते हुए एक दिन संत पंथ के अधिकारी हो जावेंगे और शब्द मार्ग द्वारा मायक सृष्टि से मुक्त होकर परम चैतन्य धाम में अमर और अटल विश्राम पावेंगे। संत पंथ पर भाव सिर्फ़ उन्हीं जीवों को आता है जिन्होंने दुःख की मात्रा क़रीब क़रीब पूरी करली है और जिन जीवों की दुःख की मात्रा पूरी होने में अभी बहुत देरी है उनकी रुचि संत मत में नहीं होती, उनकी बुद्धि संत मत के समझने में चकरा जाती है, उनको अभी नीच ऊंच योनियों में बहुत से जन्म धारण करना हैं, उनके कर्म ऐसे हैं कि वे संत मत का हाल सुनते ही अपना मुख मोड़ लेते हैं।

४७. कोई कोई जीव संतों पर भाव लाने के लिये उनकी कुछ करामात देखने की चाह रखते हैं, परंतु संत प्रगट में कोई करामात नहीं दिखलाते और न करामात के द्वारा किसी को संत मत की प्रतीत दिलाना पसंद करते हैं। वास्तव में करामात के ग्राहक बहुधा संसारी चाह के होते हैं। उनको अपने जीव के कल्याण की चाह नहीं होती। वे धन, सन्तान इत्यादि की वृद्धि के लिये करामाती महात्माओं की खोज में रहते हैं और करामात दिखाने वाले महात्मा भी बहुधा सच्चे परमार्थी नहीं होते। वे अपनी मान

प्रतिष्ठा और धन के लिये अक्सर कुछ बाजीगरों का सा तमाशा दिखाया करते हैं। और जिस तरह से उनके चेले स्वार्थी होते हैं उसी तरह से वे भी स्वार्थ में बंधे रहते हैं। ऐसे गुरु व चेले के संयोग का नतीजा वैसा ही होता है जैसा किसी कवि ने लिखा है:—

लोभी गुरू लालची चेला।
नर्क कुण्ड में ठेलम ठेला॥

४८. और सन्त सतगुरु अपने सच्चे परमार्थी सेवकों को (जिनकी प्रतीत आरम्भ में परमार्थ के आसरे कायम नहीं हुई है किन्तु सन्त मत का भेद सुनते ही जिनका हृदय उनकी ओर खिंचा है) आत्मा (सुरत) की चढ़ाई में उनके घट में ही अपनी शक्ति का लखाव कराते हैं और अक्सर उनके संसारी कामों में भी दया का परिचय देते रहते हैं जिससे उनकी प्रतीत सतगुरु की समर्थता में बढ़ती जाती है और प्रीति गाढ़ी और गहरी होती जाती है। प्रगट में संत सतगुरु हमेशा साधारण जीवों की भांति बर्ताव करते हैं और अपने दिन प्रति दिन की रहन सहन से अपनी अन्तरी हालत और शक्ति व सामर्थ्य को कदापि प्रगट नहीं होने देते।

४९. सन्त सतगुरु की पहचान हर एक जीव को नहीं हो सकती। जो जीव संत मत के अधिकारी हैं,

उनको उनके अधिकार के अनुसार स्वयं उनमें कुछ प्रीति पैदा हो जाती है और उनका संग करने पर उनकी थोड़ी बहुत पहिंचान होने लगती है; क्योंकि उनके छिपी हुई हालत में रहने पर भी सच्चे परमार्थियों पर उनके सत्संग से ज़रूर उनकी बुजुर्गी का कुछ प्रभाव पड़ता है और उनकी साधारण रहन सहन में एक ऐसा अनोखापन ज्ञात (मालूम) होता है जिससे उनकी ऊंची गति की कुछ झलक दरसने लगती है। साधारण तौर से तो उनकी पहिंचान यह है कि वे कुल रचना का भेद समझा कर सुरत शब्द मार्ग का उपदेश करते हैं और आप भी सुरत शब्द योग अभ्यास में रत रहते हैं और अपने सेवकों को मार्ग के चलने में अन्तरी सहायता और दया का परिचय देते रहते हैं। उनका सत्संग करके उनके सेवकों का हृदय धीरे धीरे संसार से उचाट होता जाता है और परमार्थ में रुचि और प्रेम बढ़ते जाते हैं। ऐसे महापुरुषों की रुचि संसारी कामों और संसारी पदार्थों में नहीं होती और वे उनमें कार्यमात्र व्यवहार करते हैं। और सबसे मोटी पहिंचान एक यह भी है कि पूरे सतगुरु कभी अपनी गुरुवाई से या परमार्थ की आड़ में अपनी मान, प्रतिष्ठा, धन, भोग, विलास इत्यादि की वृद्धि न करेंगे और अपने सेवकों को बाहरमुखी पूजा—जैसे

तीर्थ, व्रत, मूर्तिपूजन, होम, यज्ञ इत्यादि—में नहीं भटकावेंगे; क्योंकि इस प्रकार की पूजाओं से जीव को उसकी श्रद्धा और प्रतीत के अनुसार कुछ शुभ करनी का फल इसी लोक में या स्वर्गादिक लोकों में सुख के रूप में मिल जाता है और वह फल समाप्त होने पर जीव की अवस्था जैसी की तैसी रह जाती है। संत सतगुरु तप, अष्टांग योग, मुद्रा इत्यादि के साधनों का भी उपदेश नहीं करते और न नेती धोती, वस्ती, गजक्रिया इत्यादि में भटकाते हैं। सारांश यह कि अन्तरी साधनों में भी पिण्ड के स्थानों को छोड़ देते हैं।

५०. इस सिलसिले में जीव के घट के भीतर जो ब्रह्माण्ड और पिण्ड और दयाल देश के स्थान हैं उनका थोड़ासा बयान कर देना उचित मालूम होता है। ऊपर रचना के तीन मुख्य विभागों में जिन लोकों का बयान किया गया है वे सब लोक छोटे पैमाने पर हर एक मनुष्य के घट के भीतर भी हैं। सिर की चोटी से लगाकर मस्तक के शुरू तक (यानी जहां से बाल शुरू होते हैं) निर्मल चैतन्य देश है। और उसके नीचे नेत्रों के मध्य के ऊपर तक (जहां नाक की जड़ है) ब्रह्माण्ड है जिसकी हद नीचे की तरफ सहस्रदल कंवल तक है, और उसके नीचे गुदा के स्थान

तक पिण्ड कहलाता है जिसमें छः चक्र हैं। पहिला चक्र दोनों आंखों के बीच में है। उसको विराट लोक कहते हैं। यही विराट स्वरूप भगवान का स्थान है। दूसरा चक्र कण्ठ में है जो माया यानी शक्ति का स्थान है। तीसरा चक्र हृदय के मुक़ाम पर है जहां शिव और पार्वती का बासा है। चौथा चक्र नाभि के स्थान पर है जहां विष्णु और लक्ष्मी का बासा है। पांचवां चक्र काम इन्द्री के स्थान पर है जहां ब्रह्मा और सावित्री का बासा है। छटवां चक्र गुदा के स्थान पर है जहां गणेशजी का बासा है।

५१. मालूम होवे कि यह सब स्थान सूक्ष्म शरीरों में हैं जो सुरत यानी आत्मा अपने निज धाम से उतरते वक्त लोक लोक में धारण करती चली आई है। सब से बाहरी स्थूल शरीर से ऊपर बतलाये हुए चक्रों का कोई सम्बन्ध नहीं है।

५२. अष्टांग योग जिसमें जीवात्मा की धार प्राणायाम के द्वारा ऊपर की ओर चढ़ाई जाती है, गुदा चक्र से शुरू होता है और उसकी हद त्रिकुटी के मुक़ाम तक है जो दोनों भृकुटियों के मध्य में स्थित है; क्योंकि उसमें धार प्राणवायु के द्वारा ऊपर को चढ़ती है और प्राणवायु त्रिकुटी के स्थान तक ही जाती है; यानी इस अभ्यास की रसाई माया देश

के अन्दर ही समाप्त हो जाती है। और सन्तों का मार्ग नेत्रों के स्थान से ऊपर की तरफ़ चलता है। कारण इसका यह है कि जागृत अवस्था में जीवात्मा का बासा दोनों नेत्रों के मध्य में, जहां तीसरा तिल है, रहता है। इसी तीसरे तिल को ज्ञान-चक्षु और शिव-नेत्र भी कहते हैं। चूंकि योग अभ्यास जागृत अवस्था में किया जाता है इसलिये सन्तों ने जीवात्मा को उसकी जागृत अवस्था की बैठक के स्थान से ही ऊपर को चढ़ाना उचित समझा और नीचे की तरफ पिण्ड के स्थानों में उसके उतारने की ज़रूरत न समझी; क्योंकि नीचे की तरफ़ माया का ज़ोर ज़्यादा है और नीचे उतारकर फिर प्राणायाम के द्वारा चढ़ाना आजकल के निर्बल जीवों के लिये बहुत कठिन समझा।

५३. सन्त पन्थ में प्रेम की मुख्यता है। जिसके दिल में मालिक कुल के दर्शन की चाह है वही सन्त मत का अधिकारी है। जिस तरह दुनिया में कोई पदार्थ बिना चाह के प्राप्त नहीं होता और अगर कोई पदार्थ किसी को बग़ैर चाह के मिल भी जावे तो न उसको उसकी क़दर होती है और न वह उससे कुछ प्रीति ही करता है। ऐसी सूरत में वह पदार्थ न मिलने के बराबर है। जैसे पशुओं

के सामने रत्न डाल दिये जावें तो उनको उनका प्राप्त होना और न होना बराबर है। जब किसी जीव के हृदय में किसी पदार्थ की चाह होती है तभी वह उसकी प्राप्ति के लिये यत्न करता है और तभी उस चाहे हुए पदार्थ की प्राप्ति पर उसको उससे प्रीति होती है। और तभी उससे उसको आनन्द प्राप्त होता है। इसी तरह परमार्थ में जब तक मालिक के चरणों की सच्ची चाह किसी के हृदय में न होगी तब तक न उससे उसका यत्न बनेगा और न वह उसे प्राप्त कर सकेगा; इसलिये सच्ची चाह का होना परमावश्यक है। सच्ची चाह ही से प्रेम पैदा होता है। इसी को फ़ारसी में इश्क़ कहते हैं।

५४. सन्त मत में सन्त सतगुरु की मुख्यता का यह भी एक कारण है कि सन्त सतगुरु मालिक कुल के अवतार हैं। मालिक कुल अरूप है और परम चैतन्य का अपार सिन्धु है। जीवात्मा को, उसकी वर्तमान (मौजूदा) दशा में, जिसमें उसके कुल ख़यालात और विचार उसकी पांच ज्ञानेन्द्रियों की परिमित (महदूद) शक्तियों पर निर्भर हैं, मालिक कुल के स्वरूप को समझना और कल्पना में लाना असम्भव है। इसलिये पहिले मुमुक्षु को

सन्त सतगुरु का स्वरूप पकड़ाया जाता है। इस स्थूल शरीर में जीवात्मा मायक, इन्द्रीगोचर पदार्थों को ही अपनी कल्पना में ला सकती है और इसी आधार पर पुराने ज़माने में अवतारों और देवताओं की मूर्तियों की पूजा क़ायम हुई थी।

५५. जिन मनुष्यों को अवतार और देवता नर शरीर में उनके वक्त में मिले उन्होंने उन अवतारों और देवताओं के साक्षात् असली स्वरूप की भक्ती की और उन अवतारों और देवताओं के लोप होजाने के बाद उनके पीछे जो भक्त हुए उन्होंने उनकी प्रतिमायें (मूर्तियां) धातु, मिट्टी या पत्थर की बनाकर उनकी भक्ति की और अब तक कर रहे हैं। इसी तरह सन्त सतगुरु, जिनकी आत्मा की धार अपार परम चैतन्य सिन्धु की एक लहर है और उस सिन्धु से हमेशा मिली रहती है, प्रत्यक्ष अवतार कुल मालिक के हैं और नर शरीर में जो इन्द्री-गोचर है, बैठे हुए हैं। उनके स्वरूप का ध्यान करना मालिक कुल के स्वरूप के ध्यान के बराबर है। अवतारों के भक्त भी अवतारों के असली साक्षात् स्वरूपों को, भक्ति करने के लिये, ब्रह्म या शिव या शक्ति या विष्णु इत्यादि के उन असली स्वरूपों के तुल्य मानते हैं कि जिनके वे अवतार थे; इसी तरह

सन्त मत के भक्तों को मालिक कुल की भक्ति के लिये मालिक कुल के अवतार सन्त सतगुरु को मालिक कुल के तुल्य मानना चाहिये और उनके स्वरूप के ही द्वारा मालिक कुल के चरणों में प्रेम बढ़ाना चाहिये। जैसे जैसे प्रेम बढ़ता जायगा वैसे ही सुरत शब्द योग के अभ्यास में तरक्की होती जावेगी।

५६. इस संसार में दुःख की पूरी मात्रा भोगने के बाद जीव सन्त मत का अधिकारी हो जाता है, तब भी मन, जो काल का वकील है और मायक सृष्टि चलाने के लिये हर एक जीव के साथ ब्रह्म यानी काल की ओर से उसके एजेण्ट के तौर पर काम करता है, सदैव जीव को नीचे की ओर झोका दिया करता है और सच्चे परमार्थ के रास्ते में बहुत से विघ्न डाला करता है। उन अंतरी और बाहरी विघ्नों के अलावा (अतिरिक्त) जो सन्त मत के अभ्यासियों के मार्ग में मन पैदा करता है, बहुतेरे जिज्ञासुओं को वह उनके हृदय में उलटे सीधे विचार उत्पन्न करके सन्त मत में शरीक होने से रोकता है। उनमें से चन्द विघ्नों का हाल लिखा जाता है। जिज्ञासुओं का चाहिये कि मन की धोखे धड़ी से बचे रहें और समझते रहें कि दुःख की मात्रा कर्म द्वारा पूरी करने के लिये जब मायक सृष्टि की योजना की

गई यानी स्कीम बनाई गई तब उसका कार्य चलाने के लिये मन रचा गया। उसका यह कर्तव्य है कि जीव को नीचे की ओर झोका देवे और फँसावे और ऊपर की तरफ़ चढ़ने से रोकता रहे।

५७. मन दो हैं:—एक पिण्डी, दूसरा ब्रह्माण्डी। पिण्डी मन तो जीव को पिण्ड से ब्रह्माण्ड की तरफ़ जाने से रोकता है और ब्रह्माण्डी मन ब्रह्माण्ड से पारब्रह्माण्ड यानी दयाल देश की तरफ जाने से रोकता है। यानी सन्त मत के विरोधी दोनों ही मन हैं। किसी के दिल में तो मन यह ख़याल उठाता है कि ब्रह्म सब से ऊपर है और ब्रह्म से ऊपर कोई शक्ति नहीं हो सकती। सन्त इस शंका का जवाब यह देते हैं कि ब्रह्म के साथ माया मिली हुई है और माया जड़ है इसलिये आत्मा, जो निर्मल चैतन्य है, ब्रह्म की अंश नहीं हो सकती। निर्मल चैतन्य का अंशी निर्मल चैतन्य ही होना चाहिये इसलिये वह अवश्य ब्रह्म से ऊपर होगा। किसी किसी के दिल में मन यह भी तरंग उठाया करता है कि सन्त अपना सिद्धान्त पद वेद के सिद्धान्त पद के ऊपर बतलाते हैं और वेद ब्रह्मपद से प्रगट हुए हैं, इसलिये वेद के सिद्धान्त पद के ऊपर कोई पद हो नहीं सकता है। यह बात भी ऊपर की दलील से कटती है और इसकी

पुष्टता भगवद्गीता से भी होती है जिसमें कृष्ण महाराज कहते हैं—त्रैगुण्य विषया वेदाः निस्त्रैगुण्योभवार्जुन।

५८. किसी किसी के दिल में ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं कि सन्त मत में शरीक होने से हमारे भोग विलास छूटेंगे और दुनिया के मज़े कम हो जावेंगे। उनको सोचना चाहिये कि यह भोग विलास कितने दिन के हैं। बड़े बड़े राजों महाराजों और सम्राटों को भी यह भोग विलास छोड़ने पड़े। और बड़े बड़े योधा, शूरवीर और बड़े बड़े हकीम और वैद्य, डॉक्टर, जो मुर्दों तक को ज़िन्दा कर देने का दम भरते थे, मौत से बच न सके। लुक़मान हकीम और धन्वंतरि को भी मौत का ग्रास बनना पड़ा। सिकन्दर और नेपोलियन वग़ैरह अपने अपने समय में कैसे कैसे देश जीतकर विजय पताका फहराने वाले हुए! और रूस के जार से बड़ा इस पृथ्वी तल पर कोई बादशाह नहीं हुआ; मगर यह सब के सब एक दम के दम में मौत की शिकार बन गये। महमूद ग़ज़नवी जिस वक्त मरा था तो मरने के पहले उसने अपने मन्त्री और दरबारियों को हिदायत दी थी कि मेरे दोनों हाथ जनाज़े (ठठरी) के बाहर निकाल देना, जिससे लोगों

को शिक्षा मिले कि मैं ने बहुत से देश लूट लूट कर जवाहरात से अपने खज़ाने भरे; मगर अब खाली हाथ जाता हूं ।

५९. इस संसार की ऐसी स्थिति है तो हम लोग भोग विलास के मज़े कितने दिन उठा सकते हैं ? हमारी आंखों के सामने सैकडों हजारों मनुष्य दिन प्रतिदिन भोग विलास छोड़कर गड़ते और फुंकते चले जाते हैं तो हमको होशियार रहना चाहिये कि न मालूम किस दिन और किस घड़ी हमारे भोग विलास छोड़ने की बारी आजावे और हम रोते और अपने प्यारे सम्बन्धियों को रुलाते और सिर पटकते हुए छोड़कर अचानक चल दें। यह भोग विलास, जो हमें अपने परलोक का विचार करने से रोक रहे हैं और हमारे परम सुख की प्राप्ति में, जिसको हम अजर अमर होकर हमेशा भोगेंगे, बाधा डाल रहे हैं, किस क़दर घृणा करने के योग्य हैं। सच्ची बुद्धि मानी वही है जिसमें परलोक का विचार हो और परलोक का विचार यानी अन्तिम अवस्था का सोच विचार न होना पशुवत् मूर्खता है ।

६०. हिन्दुओं में पुराने ज़माने से यह प्रथा चली आई है कि दीक्षा देने के लिये कोई ब्राह्मण या भेषधारी साधु, गुरु बनाया जाय । इस प्रथा की

नींव इस तरह पड़ी कि पिछले युगों में यानी सतयुग, त्रेता, द्वापर में जाति का होना ज़्यादातर उद्यम रोज़गार पर निर्भर था। जो लोग योग अभ्यास करके ब्रह्म-पद तक पहुंचते थे वे ब्राह्मण कहलाते थे और जो सिपाहगरी करते थे वे क्षत्रिय कहलाते थे, जो वनिज व्यापार करते थे वे वैश्य कहलाते थे और जो इन तीनों की सेवा टहल करते थे वे शूद्र के नाम से पुकारे जाते थे । कोई भी मनुष्य, वह चाहे किसी पेशे वाले की सन्तान हो, योगाभ्यास द्वारा ब्रह्म को साक्षात् करके ब्राह्मण होसकता था और इसी पर यह श्लोक दिया है कि—

जन्मतः जायते शूद्रः, संस्कारात् द्विज उच्यते ।
वेद पाठी भवेद् विप्रः, ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ॥

६१. इसका मतलब यह है कि हर एक मनुष्य, चाहे ब्राह्मण की ही सन्तान क्यों न हो, जन्म होने पर शूद्र ही माना जाता था और जब जनेऊ धारण करके गुरु की सेवा में लगता था तब द्विज और वेद को पढ़कर जब उसका पाठ करता था तब विप्र कहलाता था और जब ब्रह्म को साक्षात् कर लेता था तब ही ब्राह्मण कहलाता था ।

६२. इसी प्रथा के अनुसार विश्वामित्रजी, जो क्षत्री थे, ब्रह्म को साक्षात् करके ब्राह्मण हुए । और

वाल्मीक बहेलिया थे और वशिष्ठजी उर्वशी नामक गणिका के पुत्र थे और व्यासजी मत्स्योदरी यानी एक मछली बेचनेवाली (भोइन) से पैदा हुए थे। नारदजी दासी के लड़के थे और सूत पुराणीक भी, जिन्होंने नैमिषारण्य में ऋषियों और मुनीश्वरों को कथा सुनाई, दासी पुत्र थे। कृष्ण महाराज ने ग्वाले के घर में परवरिश पाई। रामचन्द्रजी क्षत्री थे। शुकदेवजी, जिन्हों ने परीक्षित को भागवत सुनाई, व्यासजी के लड़के थे। अब कहिये इनमें से कौन ब्राह्मण जाति का था ? ये सब योगाभ्यास द्वारा ब्राह्मण हुए और जिन योगी-महापुरुषों ने अपने घर और कुल कुटुम्ब को त्यागकर भेष धारण किया वे ब्रह्म को साक्षात् करके महात्मा कहलाये, ऐसे ब्राह्मणों और महात्माओं को ही गुरु बनने और दीक्षा देने का अधिकार था। यह प्रथा बिगड़ते बिगड़ते इस दर्जे पर आगई कि जातियां बन गईं और ब्राह्मण के पुत्र, चाहे वह कैसे ही दुराचारी हों, ब्राह्मण जाति में गिने जाने लगे और उन्हीं से लोग दीक्षा लेने लगे। ऐसे ही भेष-धारी साधुओं में आजकल ब्रह्म के जानने वाले कोई विरले हों तो हों, अधिक संख्या उनमें चोर और डाकुओं और हर प्रकार के दुराचारियों की है; मगर प्रथा के अनुसार लोग उन्हें भी गुरु धारण करते

हैं और उनसे दीक्षा लेते हैं। ऐसे गुरुओं से, जो आप ही नर्क का द्वार ताक रहे हैं, दीक्षा लेनेवालों को लाभ की जगह हानि ही होती है; इसलिये भक्ति में जाति भेद नहीं मानना चाहिये। कहा है कि—

जाति पांति पूछे नहिं कोय।
हरि को भजे सो हरि को होय॥

६३. महाभारत की एक कथा है कि जब पाण्डवों ने अश्वमेध यज्ञ किया तब उनसे कृष्ण महाराज ने कहा कि जब तक तुम्हारे यज्ञ में आकाश का घंटा न बजेगा तब तक यज्ञ सुफल न होगा, और आकाश का घंटा उस वक्त तक न बजेगा जब तक कोई पूरा भक्त यज्ञ में शरीक न होगा। तब पाण्डवों ने कृष्ण महाराज ही से कहा कि "हम तो जानते नहीं कि पूरा भक्त कौन है, आप ही दया करके बतलाइये।" तब कृष्ण महाराज ने कहा कि ऋषि-मुनि तो यज्ञ में बहुत से शरीक हुए हैं, मगर इनमें से कोई पूरा भक्त नहीं है। पूरा भक्त सुदर्शन नामक एक सुपच है जो अमुक गांव में रहता है। तब महाराजा युधिष्ठिर स्वयं उस गांव में गये और सुदर्शन सुपच को, जो भंगी का पेशा करता था, बड़े आदर सत्कार से अपने साथ रथ में बैठा कर लाये। और जब यज्ञ-भोज हुआ तब सुदर्शन सुपच को महल के

भीतर सिंहासन पर बैठा कर द्रोपदी और रुक्मिणी से भोजन बनवा कर स्वयं कृष्ण महाराज ने उनका भोग लगवाया। पहिला ही ग्रास जब सुदर्शन ने अपने मुंह में रक्खा तब आकाश में घंटा बजने लगा और तभी यज्ञ सफल हुआ।

६४. दूसरी कथा शिवरी भीलनी की रामायण में देखिये। जिस जंगल में शिवरी रहती थी उसमें बहुत से ऋषि-मुनि रहते थे। उस जंगल में एक तालाब था, उसी तालाब से सब ऋषि-मुनि अपने पीने के लिये पानी लिया करते थे। एक रोज़ उसी तालाब से शिवरी को पानी लेते हुए ऋषियों-मुनियों ने देख कर बहुत क्रोधित होकर शिवरी को फटकारा और पानी लेने से मना किया और कहा कि "तू नीच जाति की होकर तालाब का पानी अशुद्ध कर देती है।" चूंकि शिवरी पूरी भक्तिन थी उसको दुःख पहुंचने पर तालाब में कीड़े पड़ गये और जब श्रीरामचंद्रजी उस बन में आये तब उनसे ऋषियों ने प्रार्थना की कि "महाराज हमको पानी का बड़ा दुःख है। एक ही तालाब है उसमें भी कीड़े पड़ गये हैं।" तब रामचंद्रजी ने फ़र्माया कि तुमने शिवरी भीलनी को, जो परम भक्तिन है, दुःख पहुंचाया है; इस कारण से पानी में कीड़े पड़ गये हैं। अब जब शिवरी अपने चरण इस

तालाब में धोवेगी तब इसके कीड़े मिटेंगे। जब ऋषियों, मुनियों ने शिवरी से प्रार्थना करके उसके चरण तालाब में धुलवाये तब तालाब के कीड़े मिटे। रामचन्द्रजी ने खुद शिवरी के जूंठे बेर, जो उसने बड़े प्रेम से चख चख कर मीठे मीठे इकट्ठे किये थे, बहुत प्रसन्न होकर खाये और एक दोना जूंठे बेरों का शिवरी ने लक्ष्मणजी को भी पेश किया; मगर उन्होंने उसका निरादर करके दोना दूर फेंक दिया। वह दोना एक पहाड़ पर गिरा और उन बेरों से एक सजीवन बूटी पैदा हुई। फिर जब लक्ष्मणजी के शक्तिबाण लगा तब सुखेन वैद्य ने वही दोनागिरि की सजीवन बूटी मंगवाकर लक्ष्मणजी को खिलाई तब उनकी जान बची। तात्पर्य यह कि जिन जूंठे बेरों का लक्ष्मणजी ने निरादर किया था उन्होंने लक्ष्मणजी के लिये अमृत का काम किया; यानी रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी को अपने भक्त का निरादर करने पर यह सज़ा दी और उनको बतलाया कि भक्त की जूंठन अमृत है। इन कथाओं से मालूम होना चाहिये कि भक्ति में जाति भेद नहीं है। सन्त और महात्मा संसार की प्रथा के अनुसार बनी हुई जातियों में से किसी जाति के हों वास्तव में उनकी जाति सर्व-श्रेष्ठ है और वे ही गुरु पदवी का अधिकार रखते हैं। जब

तक ऐसे गुरु मनुष्य को न मिलेंगे उसका उद्धार कभी नहीं हो सकता ।

६५. अक्सर लोगों को सन्त मत के बारे में यह संशय उठा करता है कि सन्त मत एक नया मत है। सतयुग, त्रेता या द्वापर में यह क्यों जारी नहीं हुआ और कलियुग ही में इसकी आवश्यकता क्यों समझी गई । इसका उत्तर यह है कि यह नया मत नहीं है । इसमें जो सुरतशब्द योग का अभ्यास कराया जाता है वह इस मुल्क में हमेशा से जारी है और अनाहद शब्द और नादानुसन्धान के नाम से भारतवर्ष के प्राचीन ग्रन्थों में इसका वर्णन है जैसा कि आगे दिये हुए प्रमाणों से मालूम होगा । सन्तों के सुरतशब्द योग में और दूसरी क़िस्म के शब्द योग मार्गों में इतना अन्तर अवश्य है कि योग अभ्यास से सम्बन्ध रखने वाली जो तीन नाड़ियां इड़ा, पिंगला और सुष्मना हैं उनमें सुष्मना नाड़ी का शब्द मार्ग सन्तों का शब्द मार्ग है और इड़ा और पिंगला के शब्द मार्ग काल देश के अन्य मतों के मार्ग हैं। सुष्मना मध्य की नाड़ी है जो सिर की चोटी से नीचे उतर कर गुदा चक्र होती हुई और पीठ की रीढ़ में गुज़रती हुई गर्दन के पीछे के हिस्से में से सिर में होकर दोनों आंखों के मध्य में, जहां तीसरा तिल है,

ख़त्म हुई है। और इड़ा और पिंगला नाड़ियां मस्तक के ऊपर नहीं जाती हैं बल्कि सुष्मना के बाईं और दाहनी ओर मस्तक में ही यानी काल की हद के अन्दर माया देश में ही ख़त्म होजाती हैं; इसलिये इड़ा और पिंगला नाड़ियों के शब्द अभ्यासी माया देश के बाहर नहीं जा सकते और सुष्मना नाड़ी के शब्द अभ्यासी ही निर्मल चैतन्य देश में पहुँच सकते हैं ।

६६. ऊपर के बयान से मालूम होगा कि दुनियां में सब लोग सन्त मत के अधिकारी नहीं हैं, बल्कि जो जीव आत्म-बुन्द का माया देश में आने का उद्देश्य पूरा कर लेते हैं वे सन्त मत के अधिकारी होते हैं। सन्त सत्गुरु अपनी मौज से ऐसे जीवों को एक ख़ास (विशेष) समय में ऐसे स्थान में मनुष्य शरीर में जन्म देने का प्रबन्ध करते हैं जहां से उनको वे सुगमता से उस स्थान पर, जहां वे स्वयं प्रगट होते हैं, खींचकर अपने सतसंग में शामिल करलें; इसलिये ऐसे अधिकारी जीवों के कर्मों का ख़याल करते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि सन्तसत्गुरु कब और कहां और कितने दिनों के लिये प्रगट होकर अपना मार्ग जारी करें। सन्तसत्गुरु का मार्ग सब से ऊंचा है और उसपर चलना जीव की संसार में अन्तिम अवस्था है यानी जब संतसत्गुरु उसको अपने

चरणों में लगाते हैं उस वक्त से उनके सुरत और मन की चाल का रुख़ नीचे की यानी मायादेश की तरफ़ से मुड़ कर ऊपर यानी निर्मल चैतन्य देश की तरफ़ को हो जाता है ।

६७. उनके उपदेश में जीव की वृत्ति को संसार से हटाने और मालिक कुल के चरणों में जोड़ने के सिवा और कोई बात नहीं है । जैसे संसारी मतों में जन्म, मरण, विवाह इत्यादि की रीति-रिवाज और दूसरे प्रकार के व्यवहारों के नियम और तरीक़े बतलाये गये हैं संत मत में उनके सम्बन्ध में कोई बात नहीं कही गई है । विवाह चाहे जिन नियमों पर किया जावे । मुर्दा चाहे जलाया जावे या गाड़ा जावे और कोई रस्म किसी भी भांति की जावे या न की जावे सन्त मत को इससे कुछ ग़रज नहीं है, सिवाय इसके कि उन रीति-रिवाजों में कोई ऐसा काम न किया जावे जो सन्त मत के अनुयाइयों को पाप का भागी बनावे । सन्त मत केवल निवृत्ति यानी पूर्ण मुक्ति का मार्ग है । वास्तव में मत के जो मानी आजकल दुनियां में लिये जाते हैं उस मानी में यह मत भी नहीं है । यह मत हमेशा जारी नहीं रहता और न रह सकता है । इसका असली काम उसी वक्त तक जारी रहता है जब तक एक ख़ास वक्त में

सन्त सतगुरु के एकत्रित किये हुए अधिकारी नर शरीर में मौजूद रहते हैं और तभी तक सन्त सतगुरु की आत्मधार उस मण्डल में उद्धार का काम करती है, और बाद उसके अपने निज धाम में समा जाती है और फिर आगे किसी वक्त में, जब पहिले की तरह अधिकारियों के एकत्रित होने का समय आता है, प्रगट होकर उद्धार का काम करती है और काम पूरा करके फिर पहिले की तरह निज धाम में समा जाती है। वह धार जुदा जुदा समय में जुदा जुदा नामों से प्रगट होती है ।

६८. मालूम होवे कि सन्त मत के सच्चे अधिकारी वही हैं जिनके हृदय में अपने आत्म बुन्द को निर्मल चैतन्य सिन्धु में पहुंचाने की सच्ची लाग है और अपने इष्ट देव सन्त सतगुरु से सिवाय इसके और कुछ नहीं मांगते और संसारी पदार्थों के मिलने या न मिलने को प्रारब्ध पर छोड़कर सब्र करते हैं; और अगर उनके मिलने का संसारिक रीति के अनुसार कुछ यत्न भी करते हैं तो यत्न के फल को अपनी प्रारब्ध पर और सन्त सतगुरु की मौज पर छोड़ देते हैं । बरखिलाफ़ इसके संसारी लोग अपने इष्ट देव से बजाय उसके चरणों की प्राप्ति के धन, सन्तान, विद्या, बल इत्यादि संसारी पदार्थों की मांग मांगा करते हैं और

यदि अपने इष्ट देव के चरणों की प्राप्ति भी चाहते हैं तो दूसरी आशा जैसे सिद्धि, शक्ति इत्यादि को लेकर। अब समझना चाहिये कि सन्त मत के अधिकारियों का दर्जा कितना ऊंचा हुआ। ऐसे ऊंचे दर्जे के अधिकारियों की संख्या बहुत नहीं हो सकती:—जैसे स्कूल के नीचे दर्जों में विद्यार्थियों की संख्या कितनी ज़्यादह होती हैं और एम. ए. क्लास में वह कितनी कम रह जाती है और एम. ए. क्लास में भी उनकी संख्या कितनी कम होती है जो विद्या को केवल विद्या ही के हेतु प्राप्त करते हैं और उसे धन, हुकूमत, नामवरी इत्यादि का कारण नहीं बनाना चाहते। फिर समझिये कि इतने थोड़े अधिकारियों के लिये कोई मत हमेशा कैसे जारी रह सकता है। सन्त सतगुरु सतयुग, त्रेता और द्वापर में भी प्रगट हुए। देखिये अनुराग सागर जिसमें कबीर साहब और धर्मदासजी का संवाद है; परन्तु उन वक्तों में सन्त सतगुरु के अनुयाइयों की संख्या इतनी नहीं बढ़ी और न उनका मार्ग इतने दिनों जारी रहा कि वह मत का रूप धारण करता और उसका साहित्य इतना बढ़ता और क़ायम रहता कि वह इस समय हमारी दृष्टि के सामने आता।

६९. जो कभी सन्त सतगुरु की आत्म धार लौट जाने के बाद उनका मार्ग किसी मत के रूप में आ भी

जाता है तो यह उस समय होता है जब कोई धन, नामवरी, मान, प्रतिष्ठा की चाह लेकर उनके बने हुए अनुयाइयों में से उनके नाम से या अपने नाम से मत जारी करदेता है और उस समय संसारी वासना लिये हुए बहुत से लोग इसमें शरीक हो जाते हैं और उसमें परमार्थी कार्रवाई ऊपरी और बाहरी रह जाती है और संसारी रीति व्योहार और आचार विचार के नियम और क़ायदे और अनेक प्रकार के सामाजिक रीति रिवाज शामिल हो जाते हैं और सुरत शब्द अभ्यास लोप हो जाता है और लोग बाहरी गाने बजाने में मस्त हो जाते हैं। ऐसे बिगड़े हुए सन्त मत की यही पहिचान है कि उस मत के ग्रन्थों में संत मार्ग का उपदेश हो, मगर उसके अनुयाइयों की कारवाई ऐसी हो जैसी कि ऊपर बयान की गई है और ऐसे मत भी ऐसी दशा में दूसरे काल मतों के समान काल मत हो जाते हैं।

७०. वास्तव में सन्तों ने ऐसी मौज फरमाई है कि वे हर एक शिशुमार चक्र में, जिसमें अनेक मृत्यु लोक हमारे पृथ्वी लोक के समान होते हैं, कोई एक मृत्यु लोक ऐसा मुकर्रर कर लेते हैं कि जिसमें सन्त मत के उद्धार की कार्रवाई हमेशा बड़े ज़ोर और शोर से लगातार जारी रहती है और दूसरे मृत्यु लोकों में वह ज़रूरत के मुताबिक समय समय पर जारी

होकर बन्द हो जाती है और सन्त मत के अधिकारी जीव अपने कर्मों के हिसाब किताब के मुताबिक़ मुख्य मुख्य स्थानों पर सन्त सतगुरु के चरणों में लगाये जाते हैं ।

७१. यह भली भांति समझ लेना चाहिये कि जीव कर्म द्वारा बन्धन में पड़ा है और कर्म कराने के लिये प्रथम अहंकार फिर काम यानी कामना या इच्छा और क्रोध, लोभ, मोह, मन इत्यादि की धारें आत्मा के ऊपर वक्त उतार के चढ़ती चली आई हैं और यह सब धारें इन्द्रियों द्वारा बाहर के पदार्थों से, जो जीव को फंसाने में मदद देने के लिये रचे गये हैं, मिलकर काम करती हैं । और जीव कर्म करके दुःख और सुख के रूप में अपने कर्मों के फल भोगते हैं । यही जाल है और इसी में जीव फंसे हुए हैं । अब जीव लौट कर अपने निज धाम में उसी समय समा सकता है जिस समय कुल अन्तरी और बाहरी फंसाने वाले काल के रचे हुए एजेण्ट्स यानी कारिन्दों से बिलकुल पीछा छुट जाय और जीव बिलकुल निःकर्म हो जाय और अन्तर से निर्वासना होजाय । कर्म, जैसा कि ऊपर कहा गया है, तीन प्रकार के हैं संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण, इनमें संचित कर्म मुख्य कर क्रियमाण कर्म के प्रेरक हैं; सो जब तक संचित कर्मों के काटने का उपाय न किया जायगा, क्रियमाण कर्मों का बनना और उनके

द्वारा संचित कर्मों का बढ़ना कदापि बन्द न होगा । और संचित कर्म, जिनके चित्र मनाकाश में रहते हैं और जिनके सूक्ष्म चित्र उन सूक्ष्म शरीरों पर रहते हैं जहां से कर्मों के विचार उठा करते हैं, बिना सुरत शब्द योग के नहीं मिट सकते; यानी सुरत अर्थात् जीवात्मा जब शब्द की धार के द्वारा अपने अन्तर में ऊपर को लौटेगी तब वह जिन जिन शरीरों तक अपनी रसाई करती जावेगी उन शरीरों से सम्बन्ध रखनेवाले कर्मों का सूक्ष्म भोग करती हुई उन शरीरों के कर्म-चित्रों को मिटाती जायगी । और इस तरह संचित कर्मों के चित्रों का नाश करती हुई और क्रियमाण कर्मों का क्रम क्रम से द्वार बन्द करती हुई अपने धाम की तरफ़ लौटती जायगी । और प्रारब्ध कर्म भी जो स्थूल शरीर द्वारा अपने फलों का भोग देते हुए कटते जावेंगे क्रियमाण कर्मों की प्रेरणा करने में हलके और कमज़ोर होते जावेंगे । इस तरह सुरत शब्द अभ्यास के साथ तीनों प्रकार के कर्म नाश होते हुए जीव को निर्वासना और निःकर्म कर देंगे और साथ ही साथ जीवात्मा के ऊपर चढ़ने में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार इत्यादि के अंग भी जैसे जैसे जीवात्मा उन अंगों के निकास के मुक़ामों से ऊपर को गुज़रती जायगी कमज़ोर पड़ते हुए क्षय होते जायेंगे और आत्मा की धार एक दिन निर्मल

होकर निर्मल चैतन्य धाम में समाकर अमर और अटल परम शान्ति को प्राप्त होगी ।

७२. सुरत शब्द अभ्यास के और सन्त सतगुरु की दया के सिवाय कोई मार्ग आत्मा को निर्मल करके निर्मल चैतन्य धाम में पहुंचाने का नहीं है ।

७३. यह सुरत शब्द अभ्यास जो सन्त सतगुरु का जारी किया हुआ है काल देश के सब योगाभ्यासों से बहुत सरल और सुगम है, जिसको १५ वर्ष के लड़के और लड़कियों से लगाकर १०० वर्ष के बूढ़े और बुढ़िया तक सब कर सकते हैं । इसमें किसी को उद्यम, रोज़गार और गृहकाज और गृहस्थ धर्म छोड़ने की आवश्यकता नहीं है ।

७४. ज़रूरत सिर्फ इस बात की है कि मांसाहार और मादक (नशे की) चीज़ों से परहेज़ किया जाय । हुक्का व तम्बाकू नशे में शामिल नहीं किये गये हैं । अभ्यासियों को अपना चाल चलन दुरुस्त रखना चाहिये और अपना उद्यम व व्योहार ईमानदारी व सचाई के साथ करना चाहिये और बुरे स्वभावों को जैसे काम, क्रोध, इर्षा, तृष्णा, लोभ, मोह, वैर, विरोध इत्यादि को क्रम क्रम से कम करते जाना और शुभ गुणों को जैसे शील, क्षमा, सन्तोष, दीनता, उदारता इत्यादि को बढ़ाते जाना चाहिये ।

प्राचीन ग्रन्थों से प्रमाण ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ॥
तत्त्वं पूषन्नपावृण सत्यधर्माय दृष्टये ॥

ईशावास्योपनिषत् । मंत्र १५ ।

हे जगत के पालन हारे ! आप कृपा करके सत्य परमात्मा के द्वार को, जो आपके तेजोमय पात्र से आच्छादित है, मुझ सत्य धर्मावलम्बी के दर्शनार्थ खोल दीजिये ।

अर्थात् एक सूर्य अपने ऊपर के बड़े सूर्य के लिये द्वार बनाता चला गया है । और अन्तिम सब से बड़ा सूर्य उस अपार निर्मल चैतन्य प्रकाश के सिन्धु का द्वार है ।

मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच ॥

बृहदारण्यकोपनिषत् । पञ्चमोऽध्यायः ।
षष्ठं ब्राह्मणम् । मंत्र १ ।

यह महान् परमात्मा पुरुष ज्ञान, विज्ञान और प्रकाश स्वरूप है । यही प्राणी के हृदय में धान और यव के समान स्थित है, यही सब का ईश्वर है, सब का अधिपति है, सब का पालन करने वाला है, सब को अपनी आज्ञा में नियमबद्ध रखता है और जो कुछ

स्थावर जंगम संसार में है उस सब का यह कर्ता, धर्ता और हर्ता है ।

दिव्योह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरोह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रोह्यक्षरात्परतः परः ॥

मुण्डकोपनिषत् । २ मुण्डके १ खण्ड । मंत्र २ ।

वह परमात्मा प्रकाश स्वरूप निश्चय करके अमूर्त, बाहर और भीतर सब पदार्थों में वर्तमान है, जो निश्चय करके अजन्मा है, उसमें प्राण का सम्बन्ध नहीं है, मन रहित है, और सर्व उपाधियों से रहित होने के कारण शुद्ध है और वह अक्षर परब्रह्म के परे के परे है ।

ओमित्येतदक्षरमिद ꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानभूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव ॥ यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥

माण्डूक्योपनिषत् । मंत्र १ ।

यह जो कुछ प्रत्यक्ष का विषय दृष्यमान प्रपंच, जड़, चैतन रूप जगत है सो सब ॐकार रूप ही है; क्योंकि ॐकार से शब्द व शब्द से आकाशादि पंच महाभूत उत्पन्न हुए हैं और उन्हीं से सम्पूर्ण प्रपंच संसार हुआ है, इसलिये सम्पूर्ण प्रपंच ॐकार रूप है । और उसी पर अपर रूप अक्षर ॐकार का ही स्पष्ट कथन है; क्योंकि ॐकार ही ब्रह्म की प्राप्ति का

उपाय है । और भूत भविष्य वर्तमान इन तीनों कालों करके जितने पदार्थ परिच्छेद वाले हैं वे भी सब ॐकार रूप ही हैं, और जो तीनों कालों से अतीत है (परे है) अर्थात् काल परिच्छेद से रहित है, और कार्य द्वारा जाना जाता है वह भी अव्याकृत रूप ॐकार ही है ।

तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतास्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेक्षन्पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क-मिष्यन्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति ।

बृहदारण्यकोपनिषत् । पंचमोऽध्यायः । पंचम ब्राह्मणम् । द्वितीय मंत्रः ।

जो सत्य है वही आदित्य है, जो पुरुष सूर्य मण्डल में स्थित है वही पुरुष मनुष्य के दाहिने नेत्र में है, वही सत्य ब्रह्म है, इसलिये वे दोनों (यानी सूर्यस्थ पुरुष और नेत्रस्थ पुरुष) एक दूसरे में स्थित हैं । यह सूर्यस्थ पुरुष किरणों करके नेत्र में स्थित है और नेत्रस्थ पुरुष प्राणों करके सूर्य में स्थित है, जब ऐसा वह विज्ञानमय पुरुष शरीर त्यागने पर होता है तब वह किरण रहित यानी ताप रहित इस सूर्य मण्डल को देखता है, और ये किरणें चक्षु में स्थित पुरुष के पास

नहीं आती हैं यानी उसको नहीं सताती हैं अथवा वे किरणें चन्द्रमा की किरणों की तरह सुखदाई होती हैं।

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपः ।
तथाक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥

मुण्डकोपनिषत् । द्वितीय मुण्डके । प्रथमः खंड । मंत्र १ ।

हे सौम्य शोनक ! वह इस क्षर और अक्षर पुरुष के परे है और सत्य है जैसे भली प्रकार प्रज्वलित अग्नि से अग्नि के समान हजारों चिनगारियां निकलती हैं वैसे ही अक्षर पुरुष यानी ईश्वर से अनेक देहधारी जीव उत्पन्न होते हैं और उसी ईश्वर में लीन हो जाते हैं।

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा संपदेषोऽस्य परमोलोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रा मुपजीवन्ति ।

बृहदारण्यकोपनिषत् । चतुर्थोऽध्यायः ।
तृतीयं ब्राह्मणम् । मंत्र ३२ ।

याज्ञवल्क्य महाराज कहते हैं कि हे राजा जनक ? आत्मा जल की तरह शुद्ध है, एक है, द्रष्टा है, अद्वितीय है, यही ब्रह्मलोक है, इस प्रकार याज्ञवल्क्य महाराज ने उस राजा जनक को उपदेश किया।

याज्ञवल्क्य महाराज कहते हैं कि इस जीवात्मा की ब्रह्म प्राप्ति ही परम गति है, इस जीवात्मा की यही श्रेष्ठ सम्पत्ति है, इसका यही परम लोक है, इसका यही परम आनन्द है। हे राजन ! इसी ब्रह्मानन्द के एक लेशमात्र से सब प्राणी जीते हैं और आनन्द करते हैं।

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ॥
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः ।

कृष्णयजुर्वेदीय श्वेता श्वेतरोपनिषत् ।
द्वितीयोऽध्यायः । मंत्र १५ ।

आत्मा का रूप दीपक के समान है उस रूप से मुक्त होने के बाद ब्रह्मतत्व को देख सकता है जो ब्रह्म अज, ध्रुव, सब तत्वों से शुद्ध और महा प्रकाशमान है उसके जान लेने से मनुष्य सब बन्धनों से छूटता है।

एष हि द्दष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः ॥ स परेऽक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ॥९॥

प्रश्नोपनिषत् । चतुर्थ प्रश्नः । मंत्र ९ ।

यह जो देखने वाला है, स्पर्श करने वाला है, श्रवण करने वाला है, गुण का ग्रहण करने वाला है, रस का स्वाद लेने वाला है, मन का मनन करने वाला है, पदार्थों का जानने वाला है, वह सब का ज्ञाता पुरुष है, वही जीवात्मा है, वही शरीर व इन्द्रियों में व्यापक है, वही अक्षर ब्रह्म में स्थित हो सकता है।

ऊपर लिखे हुए गुण जीव के न्यून दशा में वही हैं जो परमात्मा के पूर्ण दशा में है । इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा परमात्मा का अंश है और अंश उस पूर्ण एक में जिसका कि वह अंश है स्थित हो सकता है, यदि भिन्न होने के कारण जो मध्यवर्ती हैं उपाय करके दूर कर दिये जावें ।

तं वा एतमात्मानं जागृत्यस्वप्नमसुषुप्तं स्वप्ने जागृत मसुषुप्तं सुषुप्ते जागृतमस्वप्नम् तुरीये ।

नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत् । द्वितीय खण्ड ।

इस आत्मा को जागृत अवस्था में अस्वप्न और स्वप्नावस्था में असुषुप्त और जागता हुआ और सुषुप्ति में भी असुषुप्त और जागृत और तुरियावस्था में अस्वप्न जानना चाहिये ।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः ।
सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥

प्रश्नोपनिषत् तृतीयः प्रश्नः । मंत्र १० ।

कर्मों के अनुसार मरण काल में इस जीव का चित्त जिस जिस देवता, मनुष्य, पशु आदिक योनियों की ओर जाता है उसी उसी योनि में वह जीव जाकर उत्पन्न होता है । मरण काल में मुख्य प्राण तेज रूपी उदान वायु से संयुक्त होकर भोक्ता जीव को

उसके कर्मजन्य संकल्प के अनुसार कर्म फल भुगाने को लोक-लोकान्तर, देह-देहान्तर में ले जाता है ।

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्ध सत्व;कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥

मुण्डकोपनिषत् । तृतीय मुण्डके प्रथमः खण्ड । मंत्र १० ।

जिस २ लोक को मन से शुद्ध सतोगुणी पुरुष पसन्द करता है और जिन २ कामनाओं की इच्छा करता है उस उस लोक को व उन उन कामनाओं को आत्मा के स्थानों को जानने वाला पाता है इस-लिये जिसको (आत्मसुख की) इच्छा हो वह उसी आत्म-ज्ञानी पुरुष (संत-सद्गुरु) को पूजे ।

कामान् यः कामपतेमन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥

मुण्डकोपनिषत् । ३ मुण्डके २ खण्ड । मंत्र २ ।

जो मुमुक्षु दृष्ट अदृष्ट विषयों की कामनाओं को स्मरण करके भोग करने की इच्छा करता है वह अपनी कामनाओं की वासनाओं के कारण अनेक लोकों और योनियों में जाता है इसके विपरीत जिसको आत्म-ज्ञान प्राप्त हो गया है वह मुमुक्षु निष्काम होकर जीवनमुक्त हो जाता है और सब क्लेशों से छूट जाता है ।

तदेव सक्तः सह कर्मणेति लिंगं मनो यत्र निषिक्तमस्य ।

श्रुति ।

श्रुति है कि कर्म के संग उस बात के करने में वह मनुष्य आसक्त होता है जिसमें इसका मन रूपी शरीर लगा हुआ है ।

कारणं गुण संगोऽस्य सदसद्योनि जन्म सु ।

स्मृति ।

स्मृति है कि सत-असत यानी अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने के कारण इस (मनुष्य) के गुण ही हैं ।

देहावसान समये चित्ते यद्यद्विभावयन् ।
तत्तदेव भवेज्जीव इत्येव जन्म कारणम् ॥
देहांते किं भवेज्जन्म तन्न जानंति मानवाः ।
तस्मात्ज्ञानं च वैराग्यं जपश्च केवलं श्रमः ॥

योगबीज ।

देह के अन्त समय में चित्त जहां जहां या जिस जिस पदार्थ में जाता है जीव वहीं वहीं जाता है । यही जन्म का कारण है । देह के अन्त में कौन सा शरीर धारण करना पड़ेगा यह मनुष्य नहीं जानते, इसलिये बिना योग साधन के वाचक ज्ञान, वैराग्य, जप केवल श्रम हैं यानी व्यर्थ हैं ।

संकल्पन् स्पर्शन् दृष्टि मोहैर्ग्रासाम्बु वृष्टाचात्म विवृद्ध जन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभि सम्प्रपद्यते ॥

कृष्णयजुर्वेदीय श्वेताश्वतरापोनषत्
पंचम अध्याय । मंत्र ११ ।

जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार मनुष्य, पशु आदिक के शरीरों को धारण करता है । और किसी जीव के मनुष्य देह से संचित किये कई तरह की योनियों में जन्म लेने के हेतु बहुत प्रकार के प्रबल कर्म हैं, उनमें भी जो सब से अधिक प्रबल हैं उनका फल जहां भोगना उचित होगा वहीं उसी जाति में वह जन्म लेगा । और इसके पीछे जैसे कर्म फल भोगने की बारी होती है वैसी ही जाति या शरीर में वह जन्म लेता है ।

अधर्मेण समायुक्तो यमस्य विषयं गतः । महद्दुःखं समा साद्य तिर्यग्योनौ प्रजायते ॥ ४० ॥ कर्मणा येन येनेह यस्यां योनौ प्रजायते ॥ जीवो मोह समायुक्तस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ ४१ ॥ यदेतदुच्यते शास्त्रे सेतिहासे चच्छंदसि ॥ यमस्य विषयं घोरं मर्त्योलोकः प्रपद्यते ॥ ४२ ॥ इह स्थानानि पुण्यानि देव तुल्यानि भूपते ॥ तिर्यग्योन्यातिरिक्तानि गतिमंति च सर्वशः ॥ ४३ ॥ यमस्य भवने दिव्ये ब्रह्मलोकसमे गुणैः । कर्माभिर्नियतैर्बद्धो जंतुर्दुःखान्युपाश्नुते ॥ ४४ ॥ येन येन तु भावेन कर्मणा पुरुषो गतिम् । प्रयाति परुषां

घोरां तत्ते वक्ष्याम्यतः परम् ॥ ४५ ॥ अधीत्य चतुरो वेदान् द्विजो मोह समान्वितः । पतितात्प्रतिग्रह्याथ खर योनौ प्रजायते ॥ ४६ ॥ खरो जीवति वर्षाणि दश पंच च भारत । खरो मृतो बलीवर्दः सप्त वर्षाणि जीवति ॥ ४७ ॥ बली वर्दो मृतश्चापि जायते ब्रह्मराक्षसः ॥ ब्रह्मरक्षश्च मासांस्त्रींस्ततो जायति ब्राह्मणः ॥ ४८ ॥ पतितं याजयित्वातु कृमि योनौ प्रजायते ॥ तत्र जीवति वर्षाणि दश पंच च भारत ॥ ४९ ॥ कृमि भावाद्विमुक्तस्तु ततो जायति गर्दभः ॥ गर्दभः पंच वर्षाणि पंच वर्षाणि सूकरः ॥ ५० ॥ कुक्कटः पंचवर्षाणि पंच वर्षाणि जंबुकः ॥ श्वावर्षमेकं भवति ततो जायति मानवः ॥ ५१ ॥ उपाध्यायस्य यः पापं शिष्यः कुर्यादबुद्धिमान् ॥ सजीव इह संसारां स्त्रीनाप्नोति संशयः ॥ ५२ ॥ प्राक्श्वा भवति राजेन्द्र ततःक्रव्यात्ततः खरः । ततः प्रेतः परिक्लिष्टः पश्चाज्जायति ब्राह्मण ॥ ५३ ॥ मनसा पि गुरोर्भार्यां यः शिष्योयाति पापकृत् ॥ स उग्रानप्रेति संसारा न धर्मणेह चेतसा ॥ ५४ ॥ श्वयो नौतु स संभूतस्त्रीणि वर्षाणि जीवति ॥ तत्रापि निधनं प्राप्तः कृमियोनौ प्रजायते ॥ ५५ ॥

महाभारत । अनुशासनपर्व । अध्याय १११ । श्लोक ४० से ५५ तक ।

जब जीव अधर्म करता है तब यमलोक जाता है वहां बहुत दुःख पाकर तिर्यग (पशु पक्षियों की) योनियों में जाता है ॥ ४० ॥

वृहस्पति युधिष्ठिर से बोले कि जिस २ कर्म से जीव मोह यानी अज्ञान से युक्त होकर जिस २ योनि में जाता है वह मैं कहता हूं तू सुन ॥ ४१ ॥

शास्त्र, इतिहास और वेद में कहा जाता है कि मनुष्य महाभयंकर यमलोक को प्राप्त होकर कहां कहां जाता है ॥ ४२ ॥

देव तुल्य पुण्यकारक स्थानों को 'त्रियग्योनि के अतिरिक्त जो स्थान हैं' प्राप्त होता है ॥ ४३ ॥

दिव्य ब्रह्मलोक के समान यमपुरी में गुणों से और कर्मों से बद्ध होकर जीव दुःख का उपभोग करता है ॥ ४४ ॥

इसके बाद जिस जिस भावना तथा कर्म से पुरुष अत्यन्त घोर दुःखमय गति को प्राप्त होता है वह तुझसे कहता हूं ॥ ४५ ॥

ब्राह्मण चारों वेदों को पढ़कर मोह के वश में होकर पतित के हाथ से दान ले लेवे तो गधे की योनि को १५ वर्ष के लिये प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

गधे की योनि से मरने पर वह ७ वर्ष बैल की योनि में रहता है ॥ ४७ ॥

बैल की योनि से छूट कर तीन मास के लिये ब्रह्मराक्षस की योनि में रहे, फिर ब्राह्मण के शरीर में उत्पन्न होता है ॥ ४८ ॥

पतित यज्ञ कराने से कीड़े की योनि में जाता है, वहां १५ वर्ष तक जीवित रहता है ॥ ४९ ॥

फिर कीड़े की योनि से निकल कर पांच वर्ष गधे की योनि में रहता है, इसके बाद पांच वर्ष तक सुअर की योनि में रहता है ॥ ५० ॥

इसके उपरान्त पांच वर्ष तक मुर्गे की योनि में रहता है, इसके पीछे पांच वर्ष तक गीदड़ की योनि में रहता है, फिर एक साल तक कुत्ता की योनि में रहता है, फिर मनुष्य होता है ॥ ५१ ॥

जो मूर्ख शिष्य उपाध्याय के साथ बदी करता है वह संसार में निस्सन्देह तीन जन्म पाता है ॥ ५२ ॥

हे राजा, पहिले वह कुत्ता होता है, फिर मांसाहारी, फिर गधा होता है और फिर प्रेत योनि में जाता है, पीछे से ब्राह्मण होता है ॥ ५३ ॥

जो दुराचारी शिष्य मन से भी गुरु की स्त्री का भोग करता है वह घोर जन्मों को पाता है, क्योंकि उसका चित्त पापयुक्त है ॥ ५४ ॥

फिर श्वान की योनि में ३ वर्ष रहता है, उसमें मर कर कृमि की योनि पाता है। एक साल उस योनि में रह कर फिर ब्राह्मण होता है ॥ ५५ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याꣳरताः ॥

ईशावास्योपनिषत् । मंत्र १२ ।

जो पुरुष अविद्या के कारण अग्निहोत्रादि सकाम कर्मों को स्वर्गादि फल के लिये करते हैं वे अदर्शनात्मक अज्ञानावृत शरीर में प्रवेश करते हैं और जो कोई सकाम कर्म त्याग करके केवल ज्ञान काण्ड में लग जाते हैं वे और भी अधिक अधोगति को प्राप्त होते हैं।

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वाविशन्ति ॥

मुण्डकोपनिषत् । प्रथम मुंडके द्वितीयः खंडः । मंत्र १० ।

जो कर्मी लोग यज्ञ अग्निहोत्रादि श्रौत कर्म को और कूप, बावड़ी, तालाब इत्यादि स्मार्त कर्म को ही श्रेष्ठ मानते हैं और यह नहीं जानते कि आत्मोन्नति का साधन इससे अधिक कल्याणकारी है वे महा मूर्ख स्वर्ग में कर्म फल भोग लेने पर मृत्यु लोक को आते हैं अथवा नर्क इत्यादि और नीचे लोकों में चले जाते हैं।

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः

बृहदारण्यकोपनिषत् तृतीयोऽध्याय । अष्टम ब्राह्मणम् । मंत्र १० ।

जो पुरुष इस अक्षर को न जानकर इस लोक में होम या यज्ञादि करता है या पूजा करता है या सहस्रों वर्ष तक तप करता है उसका वह सब कर्म निष्फल हो जाता है। और हे गार्गी, जो पुरुष इस अक्षर को न जानकर इस लोक से मर कर चला जाता है वह जब फिर इस संसार में उत्पन्न होता है तो बड़ा कृपण दरिद्री होता है। पर जो इस अक्षर को जान कर इस लोक से प्रयाण करता है वह ब्राह्मण होता है यानी ब्रह्म के तुल्य हो जाता है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया बहुना श्रुतेन।
यमे वैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्म विवृणुते तनुं स्वाम् ॥ ३ ॥

मुण्डकोपनिषत्। तृतीय मुण्डके द्वितीयः खण्ड। मंत्र ३।

परमात्मा वेद और शास्त्र के अध्ययन से या ग्रन्थ धारण करने का सामर्थ्य रखने वाली बुद्धि से या बहुत श्रवण करने से प्राप्त होने योग्य नहीं है। जब मुमुक्षु परमात्मा से मिलने की इच्छा करता है तब वह परमात्मा भी अपने शरीर को प्रगट करता है अर्थात् जब मुमुक्षु परमात्मा से ऐसे प्रेम के साथ मिलना चाहता है जैसे स्त्री पति की कांक्षा करती है तब परमात्मा का दर्शन सद्गुरु रूप में प्राप्त होता है।

मृत सूतकजं देहं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते। अहंममेति विण्मूत्रलेपगन्धादिमोचनम् ॥ ८ ॥ शुद्धशौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम्। चित्त शुद्धिकरं शौचं वासनात्रय-नाशनम्। ज्ञान वैराग्य मृत्तोयैः क्षालनाच्छौचमुच्यते ॥ ९ ॥ अद्वैतभावनाभैक्षमभक्ष्यं द्वैतभावनम्। गुरुशास्त्रोक्तभावेन भिक्षोर्भैक्षं विधीयते ॥ १० ॥ विद्वान्स्वदेशमुत्सृज्य सन्यासा-नन्तरं स्वतः। कारागारविनिर्मुक्तचोर वद्दूरतो वसेत् ॥ ११ ॥ अहंकारसुतं वित्तभ्रातरं मोहमंदिरम्। आशा पत्नीं त्यजेद्याव-त्तावन्मुक्तो न संशयः ॥ १२ ॥ मृता मोहमयी माता जातो बोधमयःसुतः। सूतकद्वयसंप्राप्तौ कथं संध्यामुपास्महे ॥ १३ ॥ हृदाकाशे चिदादित्यः सदा भासति भासति। नास्तमेति न चोदेति कथं संध्यामुपास्महे ॥ १४ ॥ एकमेवाद्वि-तीयं यद्गुरोर्वाक्येन निश्चितम्। एतदेकान्तमित्युक्तं न मठो न वनान्तरम् ॥ १५ ॥ असंशयवतां मुक्तिः संशयाविष्टचेतसाम्। न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते तस्माद्विश्वासमाप्नुयात् ॥ १६ ॥ कर्मत्यागान्न सन्यासो न प्रेषोच्चारणेन तु। संधौ जीवात्मनो-रैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः ॥ १७ ॥ उत्तमा तत्व चिन्तैव मध्यमं शास्त्रचिन्तनम्। अधमा मंत्रचिन्ता च तीर्थ भ्रान्त्य धमधमा ॥ २१ ॥ अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते। प्रतिविम्बितशाखाग्रफलास्वादनमोदवत् ॥ २२ ॥ नत्यजेच्चेद्यतिर्मुक्तो यो माधुकरमातरम्। वैराग्यजनकं श्रद्धा कलत्रं ज्ञाननन्दनम् ॥ २३ ॥ धनवृद्धा वयोवृद्धा विद्यावृद्धा-

स्तथैव च । ते सर्वे ज्ञानवृद्धस्य किंकराः शिष्य किंकराः ॥ २४ ॥
यन्मायया मोहितचेतसो मामात्मानमापूर्णमलब्धवन्तः ।
परं विदग्धोदरपूरणाय भ्रमन्ति काका इव सूरयोऽपि ॥ २५ ॥

मैत्रेय्युपनिषत् । द्वितीयोऽध्यायः ।

मृत सूतक उत्पन्न करने वाली देह यानी लाश को छू करेक स्नान किया जाता है, अहं मम इसके परित्याग से विष्टा, मूत्र, लेप, गंधादिक मुक्त होती है इसको शुद्ध शौच माना है, और मिट्टी जल से स्नान हैं वह लौकिक स्नान हैं। चित्त की शुद्धि करने वाला जो है वह तीनों वासना का नाशक है। ज्ञान वैराग्य रूपी मृत जल से स्नान करने से शौच होता है न कि पानी से। अद्वैत भावना भिक्षा है, द्वैत भावना अभक्ष्य है, गुरु शास्त्र के बताये हुए ढंग से भिक्षुक को भिक्षा करनी चाहिये ॥ ३ ॥ विद्वान सन्यास के बाद अपने देश को छोड़कर स्वयं जेलखाने से छूटे हुए चोर के तुल्य दूर निवास करे ॥ ४ ॥ अहंकार पुत्र को, द्रव्य बन्धु को, मोह गृह को, आशा रूपी भार्या को जब छोड़ता है तब अवश्य मुक्त हो जाता है ॥ ५ ॥ मोह माता मर गई, ज्ञान पुत्र उत्पन्न हुआ, दो सूतक की प्राप्त में किस प्रकार संध्या करे ॥ ६ ॥ हृदयाकाश में चित्त सूर्य सदा भासमान है, न वह अस्त होता है, न उदय, कैसे संध्या करे ॥ ७ ॥ एक

ही है वह अद्वितीय है, जो गुरु के वाक्य से निश्चय किया गया है, इसी का नाम एकान्त है, न मठ न वन एकान्त है ॥ ८ ॥

जिनको सन्देह नहीं उनको मुक्ति है। संशय वालों को मुक्ति नहीं; इसलिये विश्वास करो ॥ ९ ॥ न कर्म त्याग से संन्यास है, न प्रेष (सन्यासियों के उच्चारण करने के मंत्र) के उच्चारण से, जीव और ब्रह्म दोनों की संधि में जो दोनों का ऐक्य वही सन्यास है ॥ १० ॥

उत्तम तत्वचिन्ता है, मध्यम शास्त्रचिंता है, अधम मंत्रचिंता है, और तीर्थ भ्रमण अधम से भी अधम है।

मूर्ख अनुभव के विना वृथा ब्रह्मज्ञान से खुश होता है, जैसे कोई जल आदि में परछाईं पड़े हुए वृक्ष-शाखा के अगले हिस्से में लगे हुए आम के स्वाद से खुशी मानता है।

मुक्तिपति, मधुकरी माता को, वैराग्य पिता को, श्रद्धा स्त्री को, ज्ञान पुत्र को न छोड़े तो मुक्ति पाता है।

धनवृद्ध वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध यह सब हे शिष्य, ज्ञान वृद्ध के सेवक हैं। परमात्मा की माया से मोहित चित्त वाले चारों तरफ से पूर्ण आत्मा को प्राप्त न होकर और अपने पापी पेट को भरने के लिये पंडित लोग भी कौओं की तरह इधर उधर घूमते हैं।

तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान्काष्ठादीनिर्मितान् ॥ योगिनो न प्रपूज्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारणात् ॥ ५२ ॥ वहिस्तीर्थात्परं तीर्थमन्तस्तीर्थं महामुने । आत्मतीर्थं महातीर्थमन्यतीर्थं निरर्थकम् ॥ ५३ ॥ चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुध्यति । शतशोऽपिजलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि ॥ ५४ ॥ विषुवायनकालेषु ग्रहणे चान्तरे सदा । वाराणस्यादिके स्थाने स्नात्वा शुद्धो भवेन्नरः ॥ ५५ ॥ ज्ञानयोगपराणां तु पादप्रक्षालितं जलम् । भावशुध्यर्थमज्ञानां तत्तीर्थं मुनिपुंगव ॥ ५६ ॥ तीर्थे दाने, जपे यज्ञे काष्ठे पाषाणके सदा । शिवं पश्यति मूढात्मा शिवे देहे प्रतिष्ठिते ॥ ५७ ॥ अन्तस्थं मां परित्यज्य वहिष्ठं यस्तु सेवते ॥ हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिहेत्कूर्परमात्मनः ॥ ५८ ॥

श्रीजाबालदर्शनोपनिषत् । चतुर्थ खंड ।

जल से भरे तीर्थ, काष्ठ आदि से निर्मित देव योगी लोग नहीं पूजते; क्योंकि उनको आत्मज्ञान है ॥५२॥ बाहर के तीर्थ से बढकर हे महामुने, भीतर का तीर्थ है । आत्मतीर्थ महातीर्थ है और तीर्थ निरर्थक हैं ॥५३॥ अन्तर से दुष्ट चित्त तीर्थ स्नानों से शुद्ध नहीं होता है, जैसे मदिरा पात्र सैकड़ों बार बाहर से धोने से भी पवित्र नहीं होता है ॥ ५४ ॥

विशुव काल में और अयन काल में और ग्रहण काल में काशी आदिक में स्नान करके मनुष्य शुद्ध होता है ॥ ५५ ॥ हे मुनि श्रेष्ठ, ज्ञान योग परायणों के पाद धोवन का जल भाव शुद्धि के लिये है । वह तीर्थों का जल अज्ञ पुरुषों के लिये है ॥ ५६ ॥

तीर्थों में, दान में, जप, यज्ञ में, काष्ठ में, पत्थर में सदा मूढ मनुष्य शिव को देखते हैं; शिव तो हमेशा देह में मौजूद हैं ॥ ५७ ॥ अंतःकरण में स्थित मुझ को त्याग करके जो बाहर से सेवता है वह हाथ में रक्खे ग्रास को छोड़ कर अपनी कोहनी को चाटता है ॥ ५८ ॥

पाषाणलोहमणिमृण्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः । तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याद्बाह्यार्चनं परिहरेद पुनर्भवाय ॥ २६ ॥

मैत्रेय्युपनिषत् । द्वितीयोऽध्यायः ।

पाषाण, लोह, मणि और मिट्टी की मूर्तियों की पूजा पुनर्जन्म की देने वाली होती है, इसलिये यती अपने हृदय ही में अर्चन करे । मोक्ष के लिये बाह्य अर्चन (बाहर की पूजा) को छोड़ दे ।

कर्मण्यधिकृता येतु वैदिके लौकिकेऽपि वा । ब्राह्मणाभासमात्रेण जीवन्ते कुक्षिपूरकाः । व्रजन्ते निरयं ते तु पुनर्जन्मनि जन्मनि ॥ ९ ॥

परब्रह्मोपनिषत् ।

जो ब्राह्मण वैदिक या लौकिक कर्म में लगे हुए हैं वे ब्राह्मण के आभास हैं, केवल अपना पेट भर कर ज़िन्दगी पूरी करते हैं । जन्म २ वे नर्क को जाते हैं ।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत् सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवꣳ सूर्यश्चेति तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इद ꣳ सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां ꣳ स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव ꣳ स देवानां यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विदुः ।

बृहदारण्यकोपनिषत् । चतुर्थ ब्राह्मणम् । मंत्र १० ।

हे सौम्य, सृष्टि के आदि में केवल एक ब्रह्म ही था उस ब्रह्म ने अपने को जाना कि मैं ब्रह्म हूं तब वही स्वरूप यानी सर्व व्यापक हुआ; इसी कारण देवताओं में, ऋषियो में, मनुष्यों में जो जो ज्ञानवान हुए वेही वेही ब्रह्म स्वरूप हुए, उसी ब्रह्म को जान करके वामदेव ऋषि भी ब्रह्म रूप हो गये और कहने लगे कि सूर्य मैं ही हूं, मनु मैं ही हूं और इसी कारण आज कल के लोग जो इस प्रसिद्ध ब्रह्म ज्ञान को जानते हैं वह भी ऐसा कहते हैं कि मैं ब्रह्म हूं और वही सब रूप होते भी हैं । ऐसे ब्रह्मवेत्ता का कोई देवता एक बाल भी टेढ़ा नहीं कर सकता है । और

जो पुरुष यह जानता है कि मैं और हूं और देवता और हैं; और फिर उनकी उपासना करता है वह अज्ञानी निश्चय करके देवताओं का पशु है । और जैसे पशु मनुष्यों का पोषण करता है उसी प्रकार एक अज्ञानी देवताओं का पोषण करता है । जब एक एक पशु के चुराये जाने पर उसके स्वामी को दुःख होता है तो यदि उसके बहुत से पशु चुरा लिये जायें तो उसके दुःख की क्या दशा होगी ? हे सौम्य, तुम अनुभव कर सकते हो, और यही कारण है कि देवताओं को ब्रह्मज्ञान प्रिय नहीं लगता है, और वे इस ख़याल से डरा करते हैं कि कहीं हमारे सेवक ब्रह्म ज्ञान द्वारा ब्रह्म को न प्राप्त हो जायें और हमारी सेवा छोड़ दें ।

देहान्ते ज्ञानिभिः पुण्यात् पापाच्च फलमाप्यते ।
ईदृशं तु भवेत्तत्तद्भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत ॥ ४९ ॥
पश्चात् पुण्येन् लभते सिद्धेन सहसंगतिम् ।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा ॥ ५० ॥
ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम् ।
योगेन रहितं ज्ञानं न मोक्षाय भवेद्विधे ॥ ५१ ॥

(योग शिखोपनिषत् ।)

अर्थः—देह नाश होने पर ज्ञानी लोग पुण्य और पाप के फल भोगते हैं । वे जिस २ प्रकार

होते हैं, उसी प्रकार भोगते हैं, उसी अनुसार उन ज्ञानियों का पुनर्जन्म होता है, फिर पुण्य प्रभाव से ज्ञानी को योगी की संगति प्राप्त होती है। तत्पश्चात् योगी की कृपा से ज्ञानी भी योगी हो जाता है। योगी होने पर सर्व संशय नाश होजाते हैं और वह मुक्त हो जाता है। अन्यथा संशय नाश नहीं होता है। यह शिव भाषित है।

अग्निष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय द्विजसत्तमः ।
योगाभ्यास रतः शांतः परं ब्रह्माधि गच्छति ॥
ब्राह्मण क्षत्रिय वैशां स्त्री शूद्राणां च पावनम् ।
शान्तये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये ॥

(मातंग महर्षि ।)

अर्थः—ब्राह्मण अग्निष्टोम आदि सम्पूर्ण यज्ञों को छोड़कर योगाभ्यास में तत्पर हुआ शान्त होकर पर-ब्रह्म को प्राप्त होता है। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, स्त्री, शूद्रों को भी कर्म नाश और मोक्ष प्राप्ति के लिये योग के अतिरिक्त कोई दूसरा साधन नहीं है।

दक्ष स्मृतौ व्यतिरेक मुखेनोक्तम्
स्वसं वेद्य हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा ।
अयोगी नैव जानाति जात्यन्धोहि यथा घटम् ।

अर्थः—दक्ष स्मृति में निषेध मुख से कहा है कि स्वसंवेद्य (जो स्वयं जाना जाय) उस ब्रह्म को योगी

से भिन्न इस प्रकार नहीं जानते हैं जैसे कुमारी (कन्या) स्त्री के सुख को, जैसे जन्मान्ध को घट के स्वरूप का दर्शन नहीं होता वैसे ही योगी हुए विना आत्मा का दर्शन नहीं होता।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियत मानसः ।
शांति निर्वाण परमांमत् संस्थामधि गच्छति ॥

(गीता ।)

अर्थः—सदैव मन को आत्मा से मिला कर मनोनियम करता हुआ योगी सायुज्य मुक्ति को प्राप्त होता है।

तथा यतेत मतिमान् यथा स्यान्निर्वृतिः परा ।
योगेन लभ्यते सा तु न चान्येन तु केनचित् ।
प्रतरन्ति महात्मानो योगेनैव भवार्णवम् ॥

(गरुड़ पुराण ।)

अर्थः—जिस प्रकार से सायुज्य मुक्ति प्राप्त हो बुद्धिमानों को उसी प्रकार से प्रयत्न करना चाहिये। वह मुक्ति योग से ही प्राप्त हो सकती है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। महानुभाव लोग योग से ही संसार समुद्र से पार हो गये हैं।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्व वेदः
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छंदो ज्योतिषमिति ॥
अथ परा यया तदक्षरमधि गम्यते ॥ ५ ॥

प्रथम मुण्डके प्रथमः खण्डः (मुंडकोपनिषत् ।)

अर्थः—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद यह चारों वेद प्रधान नहीं हैं; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष यह ६ शास्त्र भी प्रधान नहीं हैं। जिससे वह शाश्वदानंद वस्तु प्राप्त हो वही प्रधान है।

नादाभ्यन्तर वर्ति ज्योतिर्यद्वत्ततेहि चरं ।
तत्र मनो लीनञ्चेन्न पुनस्संसार बंधाय ॥

(प्रबोध सुधाकर ।)

अर्थः—नाद के भीतर एक ज्योति है, उसमें मन लीन होजाने पर फिर संसार बंधन नहीं होगा।

ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योग विशारदाः ॥

(देवी भागवत ।)

अर्थः—योगी लोग जीवात्मा के और परमात्मा के ऐक्य को ही योग कहते हैं।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुनः ॥

(भगवद्गीता सार ।)

अर्थः—हे अर्जुन ! योगी तपस्वी से भी बड़ा है, योगी ज्ञानियों से भी बड़ा है और योगी कर्मियों से भी बड़ा है; इसलिये तुम भी योगी बनो।

विजितो भवतीह तेन वायुः सहजो यस्य समुत्थितः प्रणादः ।
अणिमादिगुणा भवंति तस्यामित पुण्यं च महागुणोदयस्य ॥

(त्रिपुरसार-समुच्चय ।)

अर्थः—जो सहज नाद सुनने लग जाय, जानलो उसने वायु जीत लिया है। उसे परम गुण सम्पन्न अणिमादि अष्ट सिद्धियां तथा अमित पुण्य भी प्राप्त होता है।

नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं,
त्वां मन्महे मान्यतमं लयानाम् ।
भवत् प्रसादात् पवनेन साकं,
विलीयते विष्णु पदेमनो मे ॥

(शंकराचार्य, योगतारावलि ।)

अर्थः—हे नादानुसंधान ! तुमको नमस्कार है। मैं तुम्हें मनोलयसाधनों में से सर्व श्रेष्ठ समझता हूं; क्योंकि तुम्हारी कृपा से मेरा मन प्राणवायु सहित विष्णु पद (आकाश सच्चिदानन्द वस्तु) में लीन हो जाता है।

प्रयाण काले मनसा चलेन,
भक्त्या युक्तो योग वलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्य प्राण मावेष्य सम्यक्,
सतं परं पुरुष मुपैति दिव्यम् ॥

(गीता ।)

अर्थः—जो भक्ति और योग-बल से युक्त है वह मरण काल में मन और प्राणों को भौहों के बीच में टिका कर परम ज्योति में मिल जाता है अर्थात् सायुज्य मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

सोपान भूतं मोक्षस्य, मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
यतसाधयतिनात्मानं, तस्मात् पाप तरोऽत्रकः ॥
नरः प्राप्य तटं जन्म, लब्ध्वा च इन्द्रिय सौष्टवं ।
नवेत्त्यात्म हितं यस्तु, सभवेत् ब्रह्मघातकः ॥

(गरुड़ पुराण ।)

अर्थः—दुर्लभ मोक्ष की सीढ़ी, मनुष्य जन्म को पाकर जो परमानन्द पदवी को प्राप्त नहीं करता है उसके अतिरिक्त महा पापी इस संसार में कौन है अर्थात् कोई नहीं। वह समस्त पापियों से महा पापी है। मनुष्य जन्म फिर इन्द्रिय पौष्टव को भी पाकर जो आत्महित नहीं जानता है उसके सिवा दूसरा ब्रह्म हत्यारा कौन है ?

ज्ञात्वा देवं सर्व पाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्म मृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानातृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद्, प्रथम अध्याय, मंत्र ११ ।)

जिस ईश्वर को जानकर अविद्या जनित सम्पूर्ण सूक्ष्म क्लेशों का नाश होजाता है और क्लेशों के क्षीण होजाने से जन्म-मरण मिट जाता है उस ईश्वर का बार २ ठीक ध्यान करने से पूर्व कर्मानुसार धारण किये शरीर के छूटने पर सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामी तृतीय ब्रह्म पद (परब्रह्म) को प्राप्त होके प्रकृति (माया) के संग से छूट कर केवल एक अभीष्ट कामना को प्राप्त होकर अभ्यासी मुक्ति पद पाता है ।

नोटः—ब्रह्म के पहिले दो रूप यानी वैराट और हिरण्यगर्भ को पार करके तीसरा जो अव्याकृत यानी शुद्ध ब्रह्म रूप है, जिसको परब्रह्म कहते हैं उसको अभ्यासी प्राप्त होता है ।

यति धर्म प्रकरणे मनुः—

भूतभाव्यानवेक्षेत योगेन परमात्मनः ।
देहद्वयं विहायाशु मुक्तो भवति बंधनात् ॥

यति धर्म प्रकरण में मनु ने लिखा है कि परमात्मा को और भूत और भविष्य को योग द्वारा देखे यानी जान ले तो सूक्ष्म और स्थूल देहों को त्याग कर बन्धनों से छूट जाता है ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।

(कठोपनिषद्, द्वितीयऽध्याये, पञ्चमी वल्ली, मंत्र १३ ।)

जो ज्ञानी लोग अपने आत्मा में ही उस ईश्वर को देखते हैं उन्हीं को सनातन शान्ति और सुख प्राप्त होता है, औरों को नहीं ।

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते स ओमिति वा होद्वामीयते सत्या वत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ।

(छान्दोग्योपनिषद्, अष्टम अध्याय, षष्ठः खन्डः, मंत्र ५ ।)

मनुष्यों का जीवात्मा इस शरीर का त्याग कर ऊपर को नाड़ियों के द्वार जाता है, परन्तु जब जीवात्मा को ॐ का साक्षात्कार होजाता है तब जितनी देर में मन सूर्य के पास पहुंचता है उतनी ही देर में वह सूर्य को पार करके ब्रह्म लोक में

पहुंचता है । यही सूर्य निश्चय करके ब्रह्म लोक का द्वार है, यही ब्रह्म लोक के जाने के लिये विद्वानों का मार्ग है और अविद्वानों के लिये रुकावट है ।

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारंच मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद्, प्रथम अध्याय, मंत्र १२ ।)

परमात्मा को अपने आत्मा में नित्य व्याप्त ही जानना चाहिये । कहीं बाहर नहीं खोजना चाहिये । अपने भीतर आत्मा में ही मनुष्य को ईश्वर का ज्ञान या उसकी प्राप्ति हो सकती है ।

इस ब्रह्म से परे उत्तम व अधिक जानने योग्य और कुछ भी नहीं है । भोक्ता जीव कार्य कारण रूप स्थूल सूक्ष्म भोग्य जगत को, अपने आपको और प्रेरक अन्तर्यामी परमेश्वर को जानकर मुक्त हो जाता है ।

योग समाधि द्वारा अपने घट में ही ब्रह्म को जानने का उद्योग करना चाहिये । इसी कारण ईश्वर को बाहर खोजने का उद्योग करने वाले भ्रम में पड़े हैं । इस ब्रह्म से परे उत्तम और अधिक जानने योग्य और कुछ भी नहीं है ।

भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (पदार्थ), प्रेरिता (प्रेरक) यह तीनों रूप ब्रह्म के हुए अर्थात् उसी एक पूर्ण परमात्मा रूप से जीव और प्रकृति उत्पन्न हुए; इसलिये ये तीनों रूप ब्रह्म के हैं ।

नीहारधूमार्कानलो नलानां खद्योत विद्युत्स्फटिक शशि नाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्ति कराणि योगे ॥

(कृष्ण युजुर्वेदीय श्वेताश्वतरोपनिषद्, द्वितीय अध्याय, मंत्र ११ ।)

बहुत काल तक निरन्तर योगाभ्यास श्रद्धापूर्वक करते २ जब योग सिद्धि होने का समय आता है तब तुषार, धुंआ, अग्नि, जुगनू, बिजली, मणि, चंद्रमा के रूप समाधि में ब्रह्म परमात्मा का ज्ञान होने के पूर्व दीखते हैं अर्थात् जब योग सिद्धि द्वारा ईश्वर का साक्षात् ज्ञान होने का समय निकट आता है तब ध्यान में तुषारादि के से रूप दीखते हैं ।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासामूर्द्धानमभि निःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवंति ॥

(कठवल्ली उपनिषद्, द्वितीय अध्याय, षष्टी वल्ली, मंत्र १६ ।)

हृदय की १०१ नाड़ियां हैं, उनमें से सुषुम्णा नाड़ी मस्तक को भेद कर (ब्रह्मरंध्र को) गई है । इसी नाड़ी द्वारा ऊपर को जाता हुआ जीव अमर होजाता है (मुक्त होजाता है) और नाड़ियां सर्व ओर से नाना प्रकार की योनियों को ले जाती हैं ।

स एतमेव सीमानं विदार्य्यैतया द्वारा प्रापद्यत ।
सैषाविदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनं तस्य त्रय आवसथास्त्रयः
स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ ॥ इति ॥

(एतरेयोपनिषद्, तृतीय खंड, मूलम् १२, २१ ।)

वह परमेश्वर ब्रह्मरंध्र मार्ग से शरीर में घुसा, इसही कारण मूर्द्धा (सिर) में ही ज्ञानेन्द्रियों की बहुतायत है। यही ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का द्वार है, इसी का नाम विदृति है; क्योंकि परमात्मा ने इसको विदीर्ण (फाड़) करके शरीर में प्रवेश किया है, और इसी द्वार से उपासक मरण समय में ब्रह्मलोक को जाकर आनन्द भोगता है। इस शरीर में प्रविष्ट हुआ जो आत्मा है उसके क्रीड़ा करने के तीन स्थान हैं; एक तो नेत्र स्थान है, जहां जीव जागृत अवस्था में रहता है, स्वप्न में कंठ चक्र में और सुषुप्तावस्था में हृदय चक्र में ।

वेदेषु यज्ञेषु तपः सुचैव दानेषु यत्पुण्य फलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्व मिदं विदित्वा योगी परं स्थानं मुपैति चाद्यम् ॥
(भगवद्गीता ।)

गीता में श्रीकृष्णजी ने कहा है कि वेद, यज्ञ, तप और दान इनमें जो फल कहा है उस सब को योगी (इस योग को जान कर) उलंघन करता है यानी पार कर जाता है और अपने उत्तम आदि के स्थान यानी ब्रह्म को पा जाता है।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते ।
(गीता।)

गीता में श्रीकृष्ण भगवान ने कहा है कि योग का जिज्ञासु यानी साधना करने वाला भी शब्द-ब्रह्म से अधिक होता है।

निमिषं निमिषार्द्धं वा यत्रतिष्टन्ति योगिनः ।
तत्र तत्र कुरुक्षेत्रं प्रयागो नैमिषंवनम् ॥
(उत्तर गीता, तृतीय अध्याय, श्लोक १५ ।)

योगी निमेष (एक पलक) या आधे पल भी जिस जिस स्थान में ठहरते हैं वह वह स्थान ही कुरु-क्षेत्र, प्रयाग और नैमिषारण्य के समान है।

मद्दूर्त्तमपियोगचेछन्नासाग्रे मनसा सह ।
सर्वं तरति पाप्मानं तस्य जन्म शतार्जितम् ॥
(उत्तर गीता ।)

जो पुरुष एक पल भी एकाग्र मन से नासिका के अग्र भाग में जाता है यानी चैतन्य ज्योति की प्राप्ति के लिये एक क्षण भी नासिका के अग्र भाग में ध्यान जमाता है वह सौ जन्मों में किये हुए पापों से छूट जाता है।

तपेद्वर्ष सहस्राणि एक पाद स्थितो नरः ।
एकस्य ध्यान योगस्य कलां नार्हति षोडशीम् ॥
(उत्तर गीता, द्वितीय अध्याय, श्लोक ३७ ।)

एक पैर से खड़े होकर यदि कोई मनुष्य एक हज़ार वर्ष तपस्या करे तब भी इस ध्यान-योग की सोलहवीं कला के बराबर भी वह तप न होगा।

ब्रह्महत्या सहस्राणि भ्रूणहत्या शतानिच ।
एतानि ध्यान योगश्च दहत्याग्निरिवेन्धनम् ॥
(उत्तर गीता, द्वितीय अध्याय, श्लोक ३८ ।)

आग जैसे काठ को जला देती है वैसे ही ध्यान योग हजारों ब्रह्म हत्या और सैकडों भ्रूण हत्याओं (गर्भपात) के पातकों को भस्म कर देता है ।

देह मध्ये ब्रह्मनाडी सुषुम्ना सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्राभावर्तते । सातु मूलाधारादाराभ्य ब्रह्मरन्ध्रगामिनी भवति ॥ तन्मध्ये तडितत्कोटिसमानकान्त्या मृणालसूत्र वत्सूक्ष्मांगी कुण्डलिनीति प्रसिद्धास्ति ॥ तां दृष्ट्वा मनसैव नरः सर्वपापविनाशद्वारा मुक्तो भवति ॥ फालोर्ध्वग ललाटविशेषमण्डले निरन्तरं तेजस्तारकयोगविस्फुरणेन पश्यति चेत्सिद्धो भवति । तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्णरन्ध्रद्वये तत्र फूत्कार शब्दो जायते ॥ तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यगत-नीलजोतिस्थलं विलोक्यान्तर्दृष्टया निरतिशयसुखं प्राप्नोति ॥ एवं हृदये पश्यति । एवंमन्तर्लक्ष्यलक्षणं मुमुक्षुभिरुपास्यम् ॥ अथ वहिर्लक्ष्यलक्षणं नासिकाग्रे चतुर्भिः षडभिरष्टाभिर्दशाभिर्द्वादशभिः क्रमादङ्गुलान्ते नीलाद्युति श्यामत्वसदृग्रक्तभंगीस्फुरत्पीतशुक्लवर्णद्वयोपेतव्योम यदि पश्यति सतु योगी भवति ॥
(अद्वयतारकोपनिषद् ।)

देह के बीच में ब्रह्म नाडी सुषुम्ना सूर्य रूपिणी है, पूर्ण चन्द्र के समान प्रकाशवान है । वह मूलाधार से लेकर ब्रह्मरंध्र को चली गई है । उसके बीच में करोडों बिजलियों के तेज के समान कान्ति, कदम के तंतु के समान सूक्ष्म अंग वाली है । वह कुंडलिनी के नाम से प्रसिद्ध है, उसको मन से देख कर ही मनुष्य सर्व पाप नाश करके मुक्त होता है । फाल के ऊपर ललाट विशेष मंडल में फटते हुए तारे के अन्दर तेज को देखे तो सिद्ध हो जाता है । तर्जनी के अग्र भाग से जो दोनों कानों के छेदों को बन्द करे तो कानों में फूत्कार शब्द होता है । वहां मन स्थिर होजावे तो चक्षु के बीच में रही हुई नील ज्योति के स्थल को अन्तर्दृष्टि से देखकर अतिशय सुख को पाता है । इसी तरह हृदय में भी देखता है । इस प्रकार अन्तर के लक्ष्य के स्वरूप को जानकर मुमुक्षु लोगों को उपासना करना चाहिये । इसके बाद बाहर के लक्ष्य लक्षण को नासिका के अग्र भाग में चार, छै, आठ, दस, बारह अंगुलों के फासले पर नील प्रकाश श्यामता के तुल्य (हरा) लाल शोभा को लिये हुए पीला और सफेद दोनों वर्णों से युक्त आकाश को अगर देखता है वह योगी होता है ।

अथ ह याज्ञवल्क्य आदित्यमण्डलपुरुषं पप्रच्छ । भगवन्नन्तर्लक्ष्यादिकं बहुधोक्तम् । मया तन्न ज्ञातम् । तद्ब्रूहि मह्यम् । तदुहोवाच पञ्चभूत कारणं तडित्कूटाभं तद्वच्चतुः

पीठम् । तन्मध्ये तत्वप्रकाशो भवति ॥ सोऽति गूढ अव्यक्तश्च । तज्ज्ञान प्लवाधिरूढेन ज्ञेयम् । तद्बाह्याभ्यन्तर्लक्ष्यम् । तन्मध्ये जगल्लीनम् । तन्नादविन्दुकलातीतमखण्ड मण्डलम् । तत्सगुण निर्गुण स्वरूपम् । तद्वेत्ताविमुक्तः । आदावग्नि मण्डलम् । तदुपरि सूर्य मण्डलम् । तन्मध्ये सुधा चन्द्र मण्डलम् । तन्मध्येऽखण्ड ब्रह्म तेजो मडलम् । तद्विद्युल्लेखा वच्छुक्लभास्वरम् । तदेव शाम्भवी लक्षणम् । तद्दर्शने तिस्रो मूर्तय अमा प्रतिपत्पूर्णिमा चेति । निमीलित दर्शनममादृष्टिः । अर्धोन्मीलितं प्रतिपत् । सर्वोन्मीलनं पूर्णिमाभवति । तासु पूर्णिमाभ्यासः कर्तव्यः । तल्लक्ष्यं नासाग्रम् । तदा तालु मूले गाढतमो दृश्यते । तदभ्यासादंखण्डमण्डलाकार ज्योतिर्दृश्यते । तदेव सच्चिदानन्दं ब्रह्म भवति । एवं सहजानन्दे यदा मनो लीयते तदा शान्तो भवी भवति । तामेव खेचरी माहुः । तदभ्यासान्मनः स्थैर्यम् । ततो वायुस्थैर्यम् । तच्चिन्हानि । आदौ तारक वद्दृश्यते । ततो वज्रदर्पणम् । तत उपरि पूर्णचन्द्रमण्डलम् । ततो नवरत्नप्रभा मण्डलम् । ततोमध्यान्हर्षमण्डलम् ततो वन्हिशिखामंडलं क्रमादृश्यते ।

(मण्डल ब्राह्मणोपनिषद्, द्वितीय ब्राह्मणम् ।)

इसके बाद याज्ञवल्क्य ऋषि ने आदित्य मण्डल में रहने वाले पुरुष से पूछा कि हे भगवन ! भीतर देखने योग्य जो वस्तु है आपने बहुत वर्णन की,

परन्तु मैं उसको नहीं जान पाया । मेरे लिये उसको वर्णन कीजिये । तब वह बोले "पंच महाभूतों (तत्वों) का कारण तडित (बिजली) के शिखर के समान ४ पीठ हैं । उन पीठों के अन्दर तत्व का प्रकाश होता है । वह प्रकाश ज्ञान की नौका में बैठने से जाना जाता है । वह बाहर और भीतर का लक्ष्य है । उसके भीतर यह जगत लीन है । वह नाद बिन्दु कला से परे अखण्ड मण्डल है, वही सगुण और निर्गुण का स्वरूप है । उसको जाननेवाला मुक्त है । पहिले अग्नि मण्डल है, अग्नि मंडल के ऊपर सूर्य मंडल है, उसके भीतर अमृत चन्द्र मंडल है, उसके भीतर अखण्ड ब्रह्म का तेजोमय मण्डल है । बिजली की पंक्ति के समान सफ़ेद और चमकीला है । वही शाम्भवी का स्वरूप है । उसके दर्शन के लिये तीनों मूर्तियां यानी दृष्टि है अमावस्या, प्रतिपदा और पौर्णिमा । दृष्टि के न खुलने से अंधकार का रहना अमावस्या और थोडी खुलने से प्रतिपदा और पूरी आंख खोल कर अभ्यास करने में पौर्णिमा । इन दृष्टियों में पौर्णिमा दृष्टि का अभ्यास करना चाहिये । इस अभ्यास का लक्ष्य नासिका का अग्र भाग है । उस समय तालू के मूल में गहिरा अंधकार दीखता है । उसके अभ्यास से अखण्ड मण्डलाकार ज्योति दिखाई देती है, वही सच्चिदानन्द है । इस प्रकार सहजानन्द

में जब मन लीन हो जाता है तब संसारी मनुष्य शान्त हो जाते हैं। इसी को खेचरी कहते हैं। इसके अभ्यास से मन स्थिर हो जाता है, उससे वायु स्थिर हो जाती है। उसके यह चिन्ह हैं—पहिले तारे के समान दिखाई देता है, फिर हीरे जड़े हुए दर्पण की-सी ज्योति दिखाई देती है, उसके बाद पूर्ण चन्द्र मण्डल दिखाई देता है, उसके बाद नवरत्न की चमक का मण्डल दिखाई देता है, उसके बाद मध्यान्ह ऋषि मण्डल दिखाई देता है, उसके बाद अग्नि की शिखा का मण्डल दिखाई देता है। यह सब क्रम से दिखाई देते हैं।

देव्युवाच—" ज्ञानि नस्तु मृता ये वै तेषां भवति कीदृशी ।
गतिः कथय देवेश कारुण्यामृतवारिधे ॥"

ईश्वरउवाच—"देहांते ज्ञानिना पुण्यात्पापात्फलमवाप्यते ।
यादृशं तु भवेत्तत्तद्भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत ॥
पश्चात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम् ।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा ॥
ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम् ॥"

देव्युवाच—" ज्ञानादेव हि मोक्षं च वदंति ज्ञानि नः सदा ।
न कथं सिद्ध योगे न योगः किं मोक्षदो भवेत् ॥"

ईश्वरउवाच—" ज्ञानेनैव हि मोक्षो हि तेषां वाक्यं तु नान्यथा ।
सर्वे वदंति खड्गेन जयो भवति तर्हिकिम् ॥

विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात् ।
तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत् ॥"
(योगबीज गौरीश्वर संवाद ।)

योग बीज में महादेव पार्वती सम्वाद ।

पार्वती—' जो ज्ञानी मरते हैं उनकी क्या गति होती है ? हे देवेश, हे दयारूप, अमृत के समुद्र ! यह बताइये । "

महादेव—" देह के अन्त में ज्ञानी को पुण्य पाप से जो फल प्राप्त होता है उसको भोग कर फिर ज्ञानी हो जाता है। फिर पुण्य से सिद्धों की संगति पाता है। फिर सिद्धों की कृपा से योगी होता है और किसी प्रकार से नहीं होता। उस समय संसार नष्ट होता है यानी संसार से बन्धन टूट जाता है, और किसी तरह यह बात नहीं होती है " यह शिव का वाक्य है।

पार्वती—" ज्ञानी सदा ज्ञान से ही मोक्ष होना बताते हैं, तो बताइये सिद्ध की संगति योग द्वारा मोक्ष कैसे देती है ? "

महादेव—" ज्ञान से मोक्ष मिलती है यह कहना उनका ठीक है । जैसे सब कहते हैं खड्ग यानी तलवार से जय होती है, पर जैसे युद्ध और शूरता विना जय की प्राप्ति नहीं होती, वैसे ही योग रहित ज्ञान से मोक्ष नहीं मिलती । "

यच्छ्रेयः सर्व भूतानां स्त्रीणामप्युपकारकम् ।
अपि कीट पतंगानां तत्रः श्रेयः परं वद ॥
इत्युक्तः कपिलः पूर्वं देवैर्देवर्षिभिस्तथा ।
योग एवं परम श्रेयस्तेषामित्युक्तवान पुरा ॥

विष्णु धर्मेषु ।

विष्णु धर्म में लिखा है कि देव और देवर्षियों ने कपिल मुनि से पूछा कि जो सब जीवों के लिये उत्तम हो और जिससे स्त्रियों और कीट-पतंगों का भी उपकार हो वह बढ़िया बात हमको बताइये। कपिल मुनि ने योगाभ्यास को ही अच्छा बताया।

दुःसहा राम संसारविषवेग विशूचिका ।
योगगारुडमंत्रेण पावनेनोपशाम्यति ॥

योगवाशिष्ठ ।

योगवाशिष्ठ में लिखा है कि हे राम, संसार के विष के वेग की विशूचिका (हैजा) दुःसह है यानी असाध्य रोग है। वह योगाभ्यास रूपी पवित्र मंत्र से ही शान्त होती है।

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः ।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ॥

योगबीज ।

योगबीज में महादेवजी पार्वती से कहते हैं कि ज्ञाननिष्ठ हो या विरक्त हो, धर्मज्ञ हो या जितेन्द्रिय हो, योग के बिना देव भी मोक्ष को नहीं पा सकते।

अतः परं प्रवक्ष्यामि योगं परमदुर्लभम् ।
येनात्मानं प्रपश्यन्ति भानुमंतमिवेश्वरम् ॥
योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपंजरम् ।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति ॥

कूर्म पुराणे, शिव वाक्यम् ।

कूर्म पुराण में शिवजी ने कहा है कि इससे आगे परम दुर्लभ योग को कहता हूं जिससे सूर्य के समान ईश्वर आत्मा को योगी देखते हैं। योग रूप अग्नि शीघ्र ही सम्पूर्ण पाप के पञ्जर को जला देती है और प्रसन्न (निर्मल) ज्ञान होता है और ज्ञान से मोक्ष होती है।

तथा यतेत मतिमान्यथा स्यान्निर्वृतिःपरा ।
योगेन लभ्यते सा त न चान्येन तु केन चित् ॥
भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम् ।
परावरप्रसक्ता धीर्यस्य निर्वेद संभवा ॥
स च योगाग्निना दग्ध समस्तक्लेशसंचयः ।
निर्वाणं परमं नित्यं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥

गरुड पुराण ।

गरुड पुराण में लिखा है कि बुद्धिमान मनुष्य ऐसा यत्न करे जिससे परम सुख हो और वह सुख योगाभ्यास से मिल सकता है और किसी तरह नहीं। संसार के तापों से तपे हुए मनुष्यों के लिये योगाभ्यास सब से बढ़िया औषधि है। जिसकी बुद्धि संसार

से वैराग्य करके यानी संसार को छोड़कर परब्रह्म में लग गई हो और जिसके सब क्लेश यानी पापों के ढेर योगाभ्यास की अग्नि से जल गये हों वह मनुष्य परम निर्वाण पद को यानी मोक्ष को प्राप्त होता है इसमें संशय नहीं ।

गृहस्थानां सहस्त्रेण वानप्रस्थ शतेन च ।
ब्रह्मचारि सहस्त्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ॥

ब्रह्माण्ड पुराण ।

ब्रह्माण्ड पुराण में लिखा है कि सहस्र गृहस्थी और सौ वानप्रस्थ और सहस्र ब्रह्मचारियों से योगाभ्यासी अधिक होता है ।

राज योगस्य महात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः ।
तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्य भाजनम् ।
दर्शनादर्चनाद्स्य त्रिसप्तकुलसंयुताः ।
अज्ञा मुक्ति पदं यांति किं पुनस्यत्परायणाः ॥
अंतर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेष तः
त्वया मयाप्यसौ वंद्यः शेषैर्वंद्यस्तु किं पुनः

राजयोग वामदेव प्रति शिव वाक्यम् ।

राज योग के विषय में वाम देव के प्रति शिवजी का वाक्य है कि राज योग के यथार्थ महात्म्य को कौन जान सकता है ? राजयोग का ज्ञानी जहां बसता है वह देश पुण्यात्मा है । उसके दर्शन और पूजन से इक्कीस

कुल सहित मूर्ख भी मुक्ति के पद को प्राप्त होते हैं । योग में तत्पर तो क्यों न होंगे ? जो अंतर्योग और बहिर्योग को विशेष कर जानता है वह मुझे और तुझे भी नमस्कार करने योग्य है, शेष मनुष्यों को वंदना करने योग्य तो क्यों न होगा ?

नोटः—राजयोग, तुर्या, सहजा, समाधि, उन्मनी, निरंजन, जीवन्मुक्त सब एक ही अवस्था के नाम हैं । हठयोग प्रदीपिका । चतुर्थोपदेशः ।

आत्म ज्ञानेन मुक्तिः स्यातच्च योगाद्दते नहि ।
स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिध्द्यति ॥

स्कन्द पुराण ।

स्कन्द पुराण में लिखा है कि आत्मज्ञान से मुक्ति होती है, वह आत्मज्ञान योग बिना नहीं हो सकता और वह योग बहुत समय के अभ्यास से ही सिद्ध होता है ।

वन्हेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः ।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥ १३ ॥
स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥

कृष्ण यजुर्वेदीय श्वेताश्वतरोपनिषद्,
प्रथम अध्याय, मंत्र १३, १४ ।

जैसे बांस, अरणि और दियासलाई आदि में अग्नि का साक्षात् स्वरूप नहीं दीख पड़ता और न उन बांस आदि में कारण रूप अग्नि के चिन्ह का अभाव

होता है । वह अग्नि फिर बार बार ईंधन के संयोग से घिसने, मथने से जल उठती है और प्रकट हो जाती है। इसी तरह इस मनुष्य देह में ॐ की उपासना से ब्रह्म साक्षात् जाना जाता है और ठीक उपासना हुए बिना शरीर में छिपा हुआ रहता है ।

अपने शरीर को यानी अंतःकरण की वृत्तियों को ऊपर की अरणि और ॐकार को द्वितीय अरणिकर अर्थात् ॐकार के साथ ही अपनी बुद्धि और चित्त को जोड़ कर ध्यान योग के साथ मथने के अभ्यास से बांस आदि में गुप्त अग्नि के समान प्रकट हुए ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर को अपने घट में प्रकाशमान साक्षात् देख सकता है ।

अय ꣳ स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्स्तनयित्नौ तेजो मयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदंब्रह्मेद ꣳ सर्वम्।

बृहदारण्यकोपनिषद्, द्वितीय अध्याय, पञ्चम ब्राह्मणम्, मंत्र ९ ।

याज्ञवल्क्य महाराज कहते हैं कि है मैत्रेय, नाद करने वाला मेघ सब भूतों का सार है अथवा सब प्राणियों का प्रिय है, और इस मेघ को सब मनुष्यादि प्राणी प्रिय हैं और हे मैत्रेय, इस मेघ विषे जो यह

प्रकाश स्वरूप अमर धर्मी पुरुष है यही वह है जो देह विषे शब्द व्यापी अथवा स्वर व्यापी तेजमय, अमृत रूपी पुरुष है, यानी दोनों में कोई भेद नहीं है और हे मैत्रेय, जो इस देह में शब्द व्यापी और स्वर व्यापी पुरुष है वही अमर रूप है, यही सर्व शक्तिमान है, यही तुम्हारा रूप है ।

प्रणवोधनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

मुण्डकोपनिषद्, द्वितीय मुण्डके द्वितीय खंड, मंत्र. ४ ।

आत्मा का तीर, ॐ शब्द की ध्वनि जो लक्ष्य ब्रह्म से प्रकट होती है उसको आत्मा के तीर की कमान बनाकर उस तीर अर्थात् आत्मा से ब्रह्म लक्ष्य को बेधना चाहिये । तात्पर्य यह कि अपने घट में ब्रह्म के स्थान से जो ॐ की ध्वनि उत्पन्न होती है उसको सुनते हुए यानी ध्वनि की डोरी पकड़ते हुए ध्वनि रूप ब्रह्म में आत्मा को लय करना चाहिये ।

अरा इव रथ नाभौ संहता यत्र नाड्यः सएषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः ।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥

मुण्डकोपनिषद्, द्वितीय मुण्डके द्वितीय खंड, मंत्र ६ ।

इस चक्र की नाभ में जिस तरह अरा एकत्रित होते हैं उसी तरह घट में देह की नाड़ियां एक स्थान पर एकत्रित हैं उस स्थान के मध्य भाग में वह अवि-

नाशी परमात्मा अनेक प्रकार से प्रकट होकर विचरता है। तुम उस अविनाशी परमात्मा को ॐ की ध्वनि द्वारा ध्यान करो। तुम सबको अविद्या के पार जाने के लिये विविध कल्याण होवे।

अथ खलु य उद्गीथः सप्रणवो यः प्रणवःस उद्गीथ इत्य सौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येश स्वरन्नेति।

छान्दोग्योपनिषद्, प्रथम अध्याय, पंचम खंड, मंत्र १।

उद्गीथ और प्रणव में कोई भेद नहीं है, जो सामवेदियों का उद्गीथ है वही ऋग्वेदियों का प्रणव है। जो सामने सूर्य दिखाई देता है वह भी उद्गीथ है, और वह भी प्रणव है; क्योंकि वह ॐ ऐसा शब्द उच्चारण करता हुआ उदयाचल पर्वत से प्राणियों के उपकारार्थ और रक्षार्थ निकलता है।

यः पुनरेतत् त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्म्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परम्पुरिशयं पुरुषमीक्षते।

प्रश्नोपनिषद्, पंचम प्रश्न, मंत्र ५।

जो उपासक इस प्रसिद्ध ओंकार की तीन मात्रा यानी तीन रूप की उपासना करता है और उसी ओंकार अक्षर द्वारा पूर्ण परमात्मा का, जो सूर्य्य मण्डल (रूप) में स्थिर है, ध्यान करता है वह तेजस रूपी सूर्य में जाता है और भयानक पापों से छूट जाता है।

और जैसे सांप अपनी पुरानी कांचुली छोड़ जाता है वैसे ही वह ओंकार का उपासक भी पाप रूपी सूक्ष्म शरीर को त्यागने पर निर्मल होकर सामवेद के मंत्रों से ब्रह्म लोक को जाता है और फिर वह उपासक हिरण्यगर्भ से भी उत्कृष्ट लोक में रहने वाले परम पुरुष को देखता है।

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतंमनः॥
तन्मनो विलयं याती तद्विष्णोः परमं पदम्॥

उत्तर गीता, प्रथम अध्याय, श्लोक ४०।

श्रीकृष्ण भगवान बोले कि अनाहत शब्द की जो ध्वनि है उस ध्वनि के अन्दर ज्योति है, ज्योति के अन्दर मन है; वह मन जिस स्थान में लय होजाता है वही विष्णु का परम पद कहाता है। अर्थात् अनाहत शब्द के नाद में जो ज्योति है उस ज्योति का ध्यान करते करते ब्रह्म में लीन होजाता है तब विष्णु के परम पद की प्राप्ति होती है।

ता दृश परमं रूपं स्मरेत्पार्थ ह्यनन्यधीः।
विधूमाग्नि निमं देवं पश्येदत्यन्त निर्मलम्॥

उत्तर गीता, प्रथम अध्याय, श्लोक २५।

हे पार्थ! जबतक धूम रहित अग्नि के समान निर्मल (स्वप्रकाशमय) परमात्मा का साक्षात्कार यानी अपनी

आंख से दर्शन न हो तब तक चित्त को एकाग्र करके उस स्वरूप का ध्यान करता रहे ।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत ॥

उत्तर गीता, प्रथम अध्याय, श्लोक २४,
ध्यान बिन्दूपनिषद् मंत्र २२ ।

जो आत्मा को एक अरणि (लकड़ी) और प्रणव को दूसरी अरणि (लकडी, ध्यान रूप रगड़ने का अभ्यास करता है उसही को निगूढ़ (मक्खन) के समान ब्रह्म का दर्शन होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे दो काठों को एक दूसरे के साथ घिसने से छिपी हुई अग्नि निकलती है वैसेही जीवात्मा को ओंकार के साथ मथने से यानी शब्द का अभ्यास करने से परमात्मा के गूढ स्वरूप का दर्शन होता है ।

तैलधारमिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् ।
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद सवेद वित् ॥

उत्तर गीता, प्रथम अध्याय, श्लोक २२,
ध्यान बिन्दूपनिषद् मंत्र १८ ।

तैल की धारा के समान अटूट, घण्टे की दीर्घ आवाज़ के समान अवाच्य (जो कहा न जावे), प्रणव से प्राप्त होने योग्य जो ब्रह्म को जानता है वह वेद को जानने वाला है ।

अथो नादमाधाराद् ब्रह्मरंध्र पर्यन्तम् शुद्ध स्फटिक संकाशं स वै ब्रह्म परमात्मेत्युच्यते ।

हंसोपनिषद् ।

इसके बाद नाद को जाने, जो आधार चक्र से ब्रह्मरंध्र पर्य्यन्त फैला हुआ है और शुद्ध स्फाटिक (संगमरमर) के समान है । वही ब्रह्म है, वही परमात्मा है ।

येनासौ गच्छते मार्गं प्राणस्तेनाभिगच्छति ।
अतस्तमभ्यसेन्नित्यं यन्मार्गगमनाय वै ॥

अमृतनादोपनिषद्, मंत्र २६ ।

जिस मार्ग से यह (नाद) चलता है प्राण भी उसी मार्ग से जाता है, इसलिये उसी मार्ग का अभ्यास करे जिससे जाता है ।

मनसि सह करणैर्नादान्ते परमात्मनि, सं प्रतिष्ठाप्य ध्यायीतेशानं प्रध्यायितव्यं सर्वमिदं ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते संप्रसूयन्ते सर्वाणि चेन्द्रियाणि सह भूतैर्न कारणं कारणानां ध्याता कारणं तु ध्येयः सर्वैश्वर्यसंपन्नः सर्वेश्वरः शुंभुराकाशमध्ये ध्रुवं स्तब्ध्वाधिकं क्षणमेकं क्रतुशतस्यापि चतुःसप्तत्या यत्फलं तदवाप्नोति ।

अथर्वशिखोपनिषद् ।

प्राण को मन में सब इन्द्रियों के साथ लगाकर नाद श्रवण करे । नाद के श्रवण के अन्त में मन को परमात्मा में लगाकर ध्यान करने योग्य जो सब का ईश है

उसका ध्यान करे । सब जगत व ब्रह्म, रुद्र उसमें से उत्पन्न होते हैं । सब इन्द्रियां भूतों के साथ पैदा होती हैं । ऐसे नाद का एक क्षण भर भी ध्यान करने से सौ यज्ञ करने का फल (जो चौहत्तर प्रकार से किया जाता है) क्षण भर में प्राप्त हो जाता है ।

यदा हंसो नादे लीनो भवति तदा तुर्यातीतमुन्मननम-जपोपसंहारमित्यभिधीयते । एवं सर्वं हंसवशात्तस्मान्मनो हंसो विचार्यते । स एव जप कोट्या नादमनुभवति एवं सर्वं हंस वशान्नादो दशविधो जायते । चिणीति प्रथमः । चिञ्चिणीति द्वितीयः । घंटा नादस्तृतीयः । शंखनादश्चतुर्थः । पंचम-स्तंत्रीनादः । षष्ठस्तालनादः । सप्तमोवेणुनादः । अष्टमो मृदंग नादः । नवमो भेरीनादः । दशमो मेघनादः । नवमं परित्यज्य दशममेवाभ्यसेत । प्रथमे चिंञ्चिणीगात्रं द्वितीये गात्रभञ्जनम् । तृतीये खेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः ॥ पञ्चमे स्रवते तालु षष्ठेऽमृत निषेवणम् । सप्तमे गूढ विज्ञानं परा वाचा तथाष्टमे ॥ अदृष्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथा मलम् । दशमे परमं ब्रह्म भवेद्ब्रह्मात्मसंनिधौ ॥ तास्मिन्मनो विलीयते मनसि संकल्प विकल्पे दग्धे पुण्यपापे सदाशिवः शक्त्यात्मा सर्वत्रावस्थितः स्वयं ज्योतिः शुद्धो बुद्धो नित्यो निरञ्जनः शान्तः प्रकाशत इति ॥

अथर्ववेदे हंसोपनिषद् ।

जब हंस नाद में लीन हो जाता है तब चतुर्थ तुर्या अवस्था से परे यह उनमनन अजपोप संहार पद को

प्राप्त होगया ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार आत्मा की सहायता से मन नाद का निर्णय करता है । वही जप कोटी से नाद का अनुभव करता है । इस तरह हंस के वश से सब नाद दश प्रकार का होता है । चिणी यह पहला नाद है, चिंचिणी यह दूसरा नाद है, घंटा तीसरा नाद है, शंख चौथा नाद है, वीणा पांचवां नाद है, छटवां ताल नाद है, सातवां वेणु नाद है, नववां भेरी नाद है, दशवां मेघ नाद है । नवमे को छोड़ इसी का अभ्यास करना चाहिये ।

पहिले नाद में चिंचिणी गात्र होता है (यानी शरीर चम चम करता है), दूसरे नाद में शरीर फटने लगता है, तीसरे में शरीर पसीने में डूब जाता है, चौथे में शिर हिलने लगता है, पांचवें में तालू सूखता है, छटवें में अमृत का सेवन होने लगता है, सातवें में गूढ़ अप्रत्यक्ष का ज्ञान होता है, आठवें में परा वाचा हो जाती है (यानी वाणी से कहा न जावे ऐसा अद्भुत बोध होता है), नववें में देह अदृश्य होजाती है और निर्मल दिव्यचक्षु प्राप्त होते हैं, दशवें में परब्रह्म स्वरूप प्राप्ति हो जाती है और आत्मा ब्रह्म के पास पहुंच जाती है । उस ब्रह्म में मन लीन हो जाता है । मन में जो संकल्प विकल्प होते हैं वे दग्ध हो जाते हैं । पुण्य-पाप भी नहीं रहते और आत्मा सदा

के लिये पवित्र होता है । अपनी शक्ति से सब जगह स्थित स्वयंज्योतिः शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरंजन, शांति प्रकाशता है । इतिवेद प्रवचनं ।

तदा पश्चिमाभिमुख प्रकाशः स्फटिकधूम्रबिन्दुनाद कलानक्षत्रखद्योतदीपनेत्रसवर्णनवरत्नादिप्रभा दृश्यन्ते । तदेव प्रणव स्वरूपम् । प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा धृतकुम्भको नासाग्रदर्शनदृढभावनया द्विकराङ्गुलिभिः षण्मुखी करणेन प्रणवध्वनिं निशम्य मनस्तत्र लीनं भवति । तस्य न कर्म लेपः । रवेरुदयास्तमययोः किल कर्म कर्तव्यम् ॥

मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् । द्वितीयं ब्राह्मणम ।

तब पश्चिम की तरफ प्रकाश होता है । स्फाटिक मणि, धूम्र बिन्दु, नाद कला, शब्द का प्रकाश, तारे, जुगनू, दीपक, नेत्र समान नवरत्न आदि तेज देख पड़ते हैं । यही प्रणव का स्वरूप है । प्राण वायु, अपान वायु को रोक करके कुंभक प्राणायाम धारण करके नासिका के अग्रभाग में दर्शन करने की दृढ़ भावना से दोनों हाथों की अंगुलियों से षणमुखी मुद्रा करके प्रणव की ध्वनि को सुन कर मन वहां लीन हो जाता है । उसको कर्म बन्धन नहीं होता । रवि के उदय अस्त के समय यह अभ्यास करना चाहिये ।

एवं वै प्रणवस्तिष्ठेद्यस्तं वेद स वेदवित् ।
अनाहतस्वरूपेण ज्ञानिनामूर्ध्वगोभवेत् ॥ ७९ ॥

तैलधारा मिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् ।
प्रणवस्यध्वनिस्तद्वत्तदग्रं ब्रह्म चोच्यते ॥ ८० ॥
ज्योतिर्मयं तदग्रं स्यादवाच्यं बुद्धिसूक्ष्मतः ।
ददृशुर्ये महात्मानो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ ८१ ॥

योग चूडामण्युपनिषद्, श्लोक ७९, ८०, ८१ ।

इस प्रकार प्रणव रहता है । जो उसको जानता है वह वेद का जानने वाला है । अनाहत रूप से ज्ञानियों को प्रणव ऊपर ले जाता है ॥ ७९ ॥

अछिन्न अटूट तैलधारा तुल्य, दीर्घ घन्टा नाद समान प्रणव की ध्वनि है उसके आगे ब्रह्म है ॥ ८० ॥

उसके आगे ज्योतिर्मय स्थान है जो अवाच्य है । सूक्ष्म बुद्धि से जिसको महात्माओं ने देखा है उसको जो जाने सो वेदवित् है ॥ ८१ ॥

सम्पूर्ण रचना

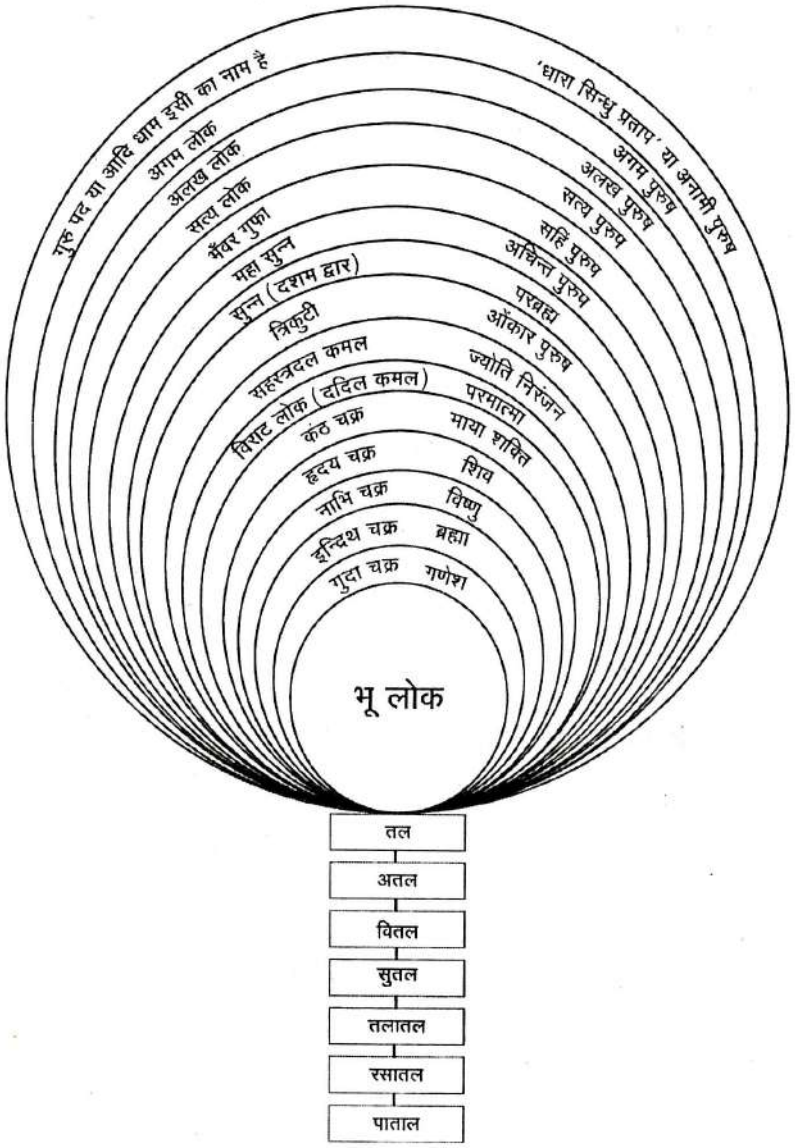

सुरत शब्द योग के स्थान, अष्टांगयोग के षट चक्र एवम् तीसरा तिल

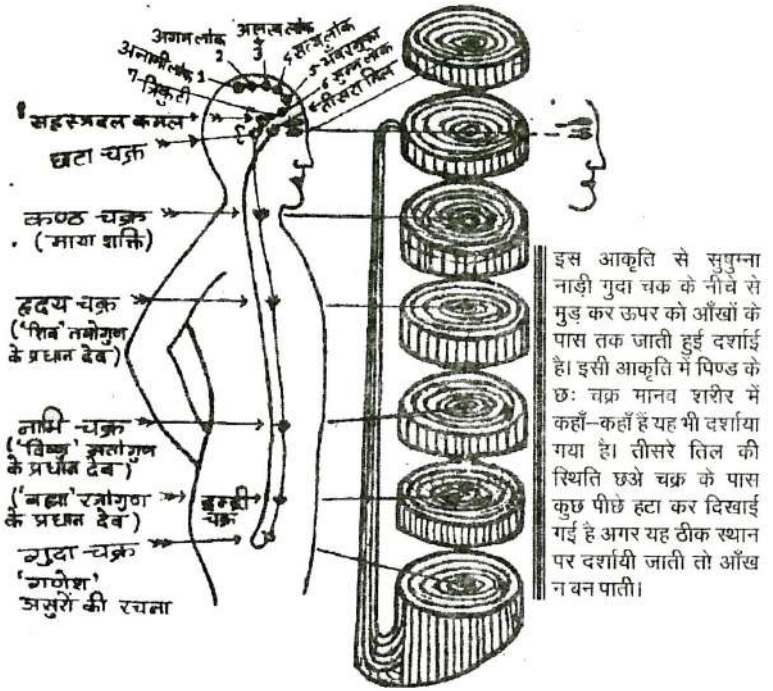

इस आकृति से सुषुम्ना नाड़ी गुदा चक के नीचे से मुड़ कर ऊपर को आँखों के पास तक जाती हुई दर्शाई है। इसी आकृति में पिण्ड के छः चक्र मानव शरीर में कहाँ–कहाँ हैं यह भी दर्शाया गया है। तीसरे तिल की स्थिति छओ चक्र के पास कुछ पीछे हटा कर दिखाई गई है अगर यह ठीक स्थान पर दर्शायी जाती तो आँख न बन पाती।

1. अनामी लोक → अनंत निर्मल चैतन्य, परम शान्ति का स्थान, 'धारा सिन्धु प्रताप' धाम
2. अगम लोक → परम विलास का स्थान, निर्मल चैतन्य देश, चैतन्य ही
3. अलख लोक → चैतन्य की रचना।
4. सत्य लोक → बीन की ध्वनि, सत्य पुरूष।
5. भँवर गुफा → वंशी की ध्वनि, सोहं शब्द की सूक्ष्म ध्वनि एवं शिव लोक में स्थूल ध्वनि, सोंह पुरूष, अहंकार उत्पन्न करने वाले परमाणु।
6. सुन्न लोक → 'सां' की सूक्ष्म ध्वनि एवम् विष्णु लोक में सूंख ध्वनि, इच्छा उत्पन्न करने वाले परमाणु, परब्रह्म और सारं पुरुष।
7. त्रिकुटी → ऊँ कार पुरुष और त्रिलोकी नाथ नाथ, मृदंग, बादल की गरज एवं ऊँ ध्वनी, इसकी स्थूल ध्वनि ब्रह्मा लोक में, क्रोध की जड़ इसी स्थान पर।
8. सहस्त्रदल कमल → घंटे की ध्वनि, मोह लोभ की जड़ इसी स्थान पर।